शान्तिपथ

(साध्वी मणिप्रभाश्रीजी के आठ प्रेरक प्रवचनों का सकलन)

शान्तिपथ (प्रवचन-संकलन)
साध्वी मणिप्रभाश्री

सम्पादन : डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी

द्वितीय आवृत्ति : मार्च १९८४

मूल्य दो रुपये

वित्तीय सहयोग :
श्रीमती नम्पन बाई नुगनचंद संचेती
राजनादगाँव ४९१४४१, मध्यप्रदेश

मुद्रण
नईदुनिया प्रिंटरी,
बाबू लाभचन्द छजलानी मार्ग,
इन्दौर-४५२००९, मध्यप्रदेश

प्रकाशन/प्राप्ति-स्थान :
(१) श्री विचक्षण प्रकाशन, नईदुनिया परिसर
बाबू लाभचंद छजलानी मार्ग, इन्दौर ४५२००९ मध्यप्रदेश
(२) श्री पार्श्वनाथ जैन मंदिर
शास्त्री नगर, जोधपुर, ३४२००१ राजस्थान

Shantipath
Sadhvi Maniprabhashri
Religion 1984

अपनी बात

प्रवचनों के इस संकलन की प्रकाशन-वेला में मैं कुछ लिखूँ, ऐसा श्री चेतनप्रकाश पाटनी का सुझाव बार-बार मिलता रहा।

मैं नहीं समझ पाती कि मैं क्या लिखूँ? उपदेश तीर्थंकर भगवान् महावीर का है, जिनवाणी का है, उसकी व्याख्या करने के अधिकारी वे सन्त साधक हैं, जिन्होंने उसके मर्म का आत्मसात् कर अपने जीवन को तदनुरूप ढाला है, या ढालने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। मैं अपने-आपको जिस स्थिति में पा रही हूँ, उसका चिन्तन करते हुए मुझे किसी भी क्षण ऐसा नहीं लगता कि मेरा अपना जीवन कुछ है।

जिनवाणी का स्वाध्याय करती हूँ। मेरी इस स्वाध्याय-रुचि का सम्पूर्ण श्रेय समतामूर्ति, वीतराग-पथ की विशिष्ट पथिक गुरुवर्य्या श्री विचक्षणश्री जी म सा को है जिनके सान्निध्य में मुझे रहने का अवसर मिला, जिनके प्रवचन श्रवण का प्रतिदिन योग बना। गुरुवर्य्या का जीवन एक कठोर साधक का जीवन था। वे अपनी प्रवृत्तियों में इतनी अधिक सतर्क थीं कि सूक्ष्म दोष भी यदि दृष्टिगत हो जाता तो तत्काल उसके परिहार का प्रयास प्रारम्भ कर देतीं। अनेक बार विचारों को सुनने का अवकाश मिलता तब ऐसा लगता था कि पूज्यश्री की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और अन्तर्भेदिनी है। वे हमें पारसमणि के तुल्य मिले, किन्तु कर्मों के घने आवरण ने मुझे उनके हृदय के गम्भीर ज्ञान का स्पर्श नहीं पाने दिया। उन से प्राप्त ज्ञान का जो अंश मेरी बुद्धि ग्रहण कर सकी है, उसे ही उनका नामस्मरण करके जिज्ञासुओं के समक्ष बोल देती हूँ, यह सब उनका ही प्रसाद है मेरा उसमें कुछ भी नहीं। "हे गुरु! आपके अन्तरंग विचार का मैं समझ सकूँ, ऐसा मेरे पास बुद्धि का प्रकाश नहीं, आपके गुणों को मैं अंशत ग्रहण कर सकूँ, ऐसी मेरी पात्रता नहीं। मुझे इतना ही पुण्य मिला कि *मैं आपके नाम के साथ अपने नाम को लिख सकी*, किन्तु आपके जीवन में जुड़ने योग्य मानस नहीं मिला। जन्म-जन्मान्तर की साधना के बाद भी आप सदृश आदर्श तक पहुँच सकूँ जिससे भविष्य में आत्मा के सहज स्वभाव — वीतराग-भाव— को पा सकूँ— यही आशीर्वाद प्रदान करें।" आप का जीवन सदा मेरे चिन्तन का विषय रहा [illegible]

अनुक्रम

स्व प्रवर्तिनी श्री विचक्षणश्रीजी म सा को प्रिय

प्रार्थना

ॐ जय जिनराज प्रभो, स्वामी जय जिनराज प्रभो ।
शासन स्वामी अन्तर्यामी, तीरथनाथ विभो ॥ टेर ॥

अरहा अर्हन् अरुह अभोगी, ईश्वर अरिहन्ता ।
केवल दर्शन केवल ज्ञानी, योगी जयवन्ता ॥१॥

सत्य सनातन शुद्ध सुखाकर, शकर शिववासी ।
अजर अमर अज अतुल वली हो, अविचल अविनाशी ॥२॥

परम पुरुप परमातम पद कज प्रियतम प्रियकारी ।
वीतराग सुख शान्ति विधाता, भव-भव भयहारी ॥३॥

तुम ही परम पिता परमेश्वर, तुम हो शिवदाता ।
तुम ही सहज सखा हो स्वामी, मात तात भ्राता ॥४॥

अजब निराली शक्ति तिहारी महिमा अतिभारी ।
चरण-कमल मे शीप झुकाते, सुर नर व्रतधारी ॥५॥

तव सुमिरन से पाप हमारे, सारे हट जावे ।
विपदा सारी दूर विलावे, वाछित फल पावे ॥६॥

आश हमारी पूरण करियो, भवदुख दूर करो ।
डूबत है अव नाव भँवर मे, सागर पार करो ॥७॥

भगवन् तेरे पद पकज के, हम मधुकर वन जावे ।
यही कामना एक हमारी, सत् पर डट जावें ॥८॥

卐 卐 卐

जानो निज को, निजता को

□ अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष का सही अनुमान रसभंग की पराकाष्ठा में ही हो सकता है □ प्रथमतः आभास होता है, फिर प्रतीति, अनन्तर आचरणरूप अनुभूति होती है □ हृदय में वैराग्य हो और बाहर राग में लिप्त रहे, यह कैसे बनेगा? यदि जड़ गीली हो तो ऊपर शुष्कता कैसे बनेगी? घड़ा जल से भरा हो और बाहर नमी न हो यह कैसे सम्भव है? □ लक्ष्य को सही समझकर किया गया प्रयास ही हमें पूर्णता देने वाला है। हमें पाप और पुण्य दोनों से ऊपर उठ शुद्धात्म के शाश्वत असीम सुख में रस लेना है। अपने आप को जानना, पहचानना, और उसी में रमण करना है।

भेदविज्ञानत सिद्धा, सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावत बद्धा, बद्धा ये किल केचन ॥

—अमृतचन्द्राचार्य

संसार-दशा में मुक्ति प्राप्त करने के लिए आत्मोन्मुखी दृष्टि या स्वपर-भेदविज्ञान अनिवार्य है। स्व-पर विवेक के अभाव में यह जीव अनादि-काल से पुद्गल द्रव्य से बद्ध होकर विभाव परिणमन करता आया है, फलस्वरूप अपने ही संसार-परिभ्रमण को बढ़ाता रहा है। इस प्रश्न का कि जीव का लक्ष्य क्या है? एकमात्र उत्तर यही है कि वह सुख पाना चाहता है, शाश्वत सुख का भोक्ता बनना चाहता है। उसके सारे

प्रयत्न इसी दिशा मे दौड़ रहे है प्रबल वेग से, और आज के भौतिक जगत् में तो वह गति और भी तीव्र है; परन्तु क्या इतने पर भी उसे कोई सुख मिल सका है? शायद नही, नही, नही मगर क्यों? इसलिए कि मूल-मे-ही-भूल पडी हुई है। निजी अनन्त वैभव से अपरिचित यह जीव पौद्गलिक जड पदार्थों मे, अपने भिन्न परपदार्थों मे सुखान्वेषण करता है, किन्तु पुद्गल से किंचित् मात्र भी सुख की प्राप्ति नही हो सकती है, क्योकि सुख पुद्गल का स्वभाव नही। सुख का आगार तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, बलसंयुक्त चैतन्यमय आत्मा ही है। पुद्गल से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की प्राप्ति तो हो सकती है, क्योकि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ही उसके लक्षण है तथापि पुद्गल से प्राप्त होने वाला यह रस (सुखाभास) सर्वथा अस्थायी तथा सीमित है। आत्मा के अनन्त सुख की तुलना मे यह उसी प्रकार हेय है, जिस प्रकार अमृत की तुलना मे गरल; इसलिए सन्तजन जिनवाणी को धारण करने की प्रेरणा देते है—

स्वर्गादि सुख देवादिकना पिण्डित कर अनन्त वारो।
वर्ग कियाँ पण होवत नहीं, सिद्ध गुण समाना ।।
रे भविका जिनवाणी उर धारो ।।

पौद्गलिक रसानुभूति ससारबन्ध का कारण है। आत्मिक अनन्त सुख की अनुभूति निश्चित मोक्ष का साधन है।

आत्मसुखानुभूति पूर्वानुभूत न होने से अज्ञात है। ससारी जीव केवल पौद्गलिक रसानुभूति से ही परिचित है, अत. उसे ज्ञात पौद्गलिक रसानुभूति के माध्यम से उत्तरोत्तर अज्ञात आत्मसुखानुभूति की ओर अग्रसर करना होगा। अनार्य को अनार्यभाषा के माध्यम से ही ज्ञान कराया जा सकता है। ससारी जीव अनन्तकाल मे अशुद्धावस्था मे होने के कारण व्यवहार मे सम्बद्ध है, उसे व्यवहार का अवलम्बन लिये बिना निश्चय का बोध अशक्य है। 'समयसार' मे स्पष्ट कहा है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।

संसारी जीव प्रतिदिन शुभ एवं अशुभ भावों में परिणमन कर सांसारिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उसका अशुभ परिणमन उसे उसके लक्ष्य से पूर्णतः विमुख कर पराभव की ओर ले जाने वाला है, जबकि उसका प्रशस्तरागरूप शुभ परिणमन उसे ऐसे अवसर प्रदान करने में सक्षम है जिनमें संसारी जीव भी आत्मसुखानुभूति की ओर अग्रसर हो सकता है। इसका सही स्वरूप समझने के लिए हमें संसारी प्राणी के समक्ष रस के विभिन्न ज्ञात एवं प्रचलित अर्थों पर विचार करना होगा और यह भी विचार करना होगा कि मोक्षमार्ग के पथिक को अपने पथ पर अग्रसर होने में किस प्रकार के रस का रसिक होना चाहिये।

हम प्रतिदिन रस शब्द का प्रयोग करते हैं, दूसरों से भी सुनते हैं—लेकिन यह रस है क्या? यह कैसे उत्पन्न होता है? जहाँ वातु-मिलाप होता है वहीं रंजन होता है, रस होता है। आयम्बिल का भोजन जब हम करने बैठते हैं तो क्या रस आता है? नहीं, लेकिन एक सब्जी, जैसे कि तुरई है उसमें कितने ही पदार्थों को डालते हैं—नमक भी है, मिर्च भी है, घी भी है तभी वह तरकारी स्वादिष्ट बनती है और हम चटकारे ले-लेकर खाते हुए कहते हैं—बड़ी सरस बनी है, लेकिन उतने सब पदार्थों के डालने पर भी यदि स्वयं तुरई कड़वी निकल जाए तो समस्त रस भंग हो जाता है और अप्रिय लगने लगता है, वमन होने पर आ जाता है और आगे एक ग्रास भी लिये बिना अनेक पदार्थों के सम्मिश्रण से तैयार तुरई की सब्जी फेंक दी जाती है। कोई विरला ही होगा जो कड़वी तुरई की सब्जी का भी उतना ही रस लेकर खाये, जितना उसके कड़वी न होने पर। यह स्थूल उदाहरण संसारी जीव के समतारहित भाव को स्पष्टतः सूचित करता है। यह उसके द्वारा प्रिय के प्रति राग और अप्रिय के प्रति द्वेष का द्योतक है—

जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

—उत्तराध्ययन ३२ ६१

(रस जिह्वा का विषय है। यह जो रस का प्रिय लगना है उसे राग का हेतु कहा है और यह जो रस का अप्रिय लगना है उसे द्वेष का हेतु। जो दोनों मे समभाव रखता है वह वीतराग है।)

इसी प्रकार भाषा मे प्रयुक्त होने वाले इन्द्रियग्राह्य शब्द भी पुद्गल है, किन्तु इन्द्रियजन्य सुख के प्रति आसक्त संसारी जीव हर शब्द को समभाव से ग्रहण नही करता। कर्ण-कटु शब्द के प्रति सामान्य जन का आक्रोश हम नित्यप्रति देखते है, शोर करते हुए बालको को प्रताड़ित किया जाता है और कर्णेन्द्रिय को अप्रिय शोर को अपने अन्तर के पूर्ण द्वेष के साथ शान्त करा दिया जाता है। यदि कोई गायक मधुर स्वर मे कोई गीत गा रहा हो तो श्रोताजन उसके स्वर-माधुर्य से प्रभावित हो, इन्द्रियविषय मे तन्मय हो श्रवण-रस का आनन्द लेते है, शरीर की सुधबुध भूल जाते है; उनका यह व्यवहार प्रिय के प्रति राग का प्रतीक है।

उक्त उदाहरण कुछ अशो मे श्रवण-रस के प्रति हमारे राग और द्वेष को दर्शाते है। कल्पना कीजिये उस स्थिति की जब रेडियो मे मधुर संगीत प्रसारित हो रहा हो और हमे उसमे अत्यधिक रस आ रहा हो, तभी अचानक बालक शोर करने लगे तो कितना तीव्र द्वेषभाव उत्पन्न होता है इस अवांछित शोर के प्रति। अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष का सही अनुमान रसभग की पराकाष्ठा मे ही हो सकता है।

इतना ही नही, शब्द अकेला भी किसी को रिझाता नही है—वही स्वर, वही वर्ण जब अनुप्रास से, सजावट, तथा व्यवस्था द्वारा कविता-रूप मे रूपान्तरित होता है तभी हमे मोहित करता है। कहीं कवि-सम्मेलन हो तो श्रोतागण अर्द्धरात्रि बाद तीन-तीन बजे तक भी बैठे रहते है, क्योकि कानो को रस आ रहा है, आनन्द आ रहा है। हम बैठे ही है, एक व्यक्ति का पत्र आया जो हमारा स्नेही है, सम्बन्धी है, तो चेहरे आदि के भाव सब बदल जाते है। जहाँ दो शरीरो का स्पर्श, दो पदार्थों का योग चार आँखो का मिलन हो, वहाँ रस स्वय ही उत्पन्न हो जाता है, किन्तु क्या यह रस हमारे लिए उपादेय है? हम इसी

रस को आवश्यक मानते आये है। इसी के पीछे रात दिन भाग-दौड करते रहते है। करोड़पति हैं तो भी साढ़े रात दो बजे भी टेलीफोन की घण्टी बजने पर नींद तोड़कर भी आनन्दित होते है, क्योंकि लाभ हो रहा है। किसका? पैसे का। उसे उसी में रस आ रहा है, लेकिन पुद्गल के प्रति यह आकर्षण इसे भटकानेवाला है, चारों गतियों में भ्रमण करानेवाला है। इस जीव को अनादिकाल से मोह-बुद्धि के कारण वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श मात्र में भी आनन्द का अनुभव हो रहा है।

महर्षि अरविन्द ने कहा है — 'सान्त वस्तु के आकर्षण से व्यक्ति के हृदय में कभी अनन्त के प्रति अनुरक्ति नहीं होती।'

इन्द्रियजन्य पुद्गलात्मक रसानुभूति, या सुख सान्त है। जब तक संसारी जीव इस नश्वर एवं सीमित रसानुभूति में ही मुग्ध है, वह आत्मा के अनन्त एवं असीम शुद्धानन्द की ओर आकर्षित नहीं हो पाता, उसे आत्मरसानुभूति काल्पनिक प्रतीत होती है, फलत सांसारिक पारलौकिक रसानुभूति की मृगमरीचिका के पीछे वह आकुल-व्याकुल बनता है। रस को नहीं समझ सकने के कारण जीव संसार-सागर में गोते लगा रहा है। जब तक वह एक नया रस पैदा नहीं करेगा, तब तक वह तरणतारण नैया नहीं पा सकेगा। वह रस है—अपने को जानने का, 'स्व' को पहचानने का, स्वाध्याय करने का। कई व्यक्ति यह कहते हैं कि आत्मा की अनुभूति तो होती नहीं, हम कैसे समझें आत्मा है? इस बात का क्या प्रमाण है कि इस भव के बाद हमारे कर्मों के अनुसार ही हमारा आगामी गतिबन्ध होगा? जब हम परलोक के विषय में कुछ नहीं जानते तो हम उसे कैसे मानें? जो कुछ हमारे सामने है हमारे लिए तो वही ग्राह्य है। ऐसे अस्पष्ट, काल्पनिक आत्मरस के आश्वासन मात्र से हम वर्तमान के उपस्थित पारलौकिक सुख रस का परित्याग क्यों करें?

जे गिद्धे, कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई॥
—उत्तराध्ययन ५. ५

(जो मनुष्य शब्द, रूप, गंध रस और स्पर्श इन पाँच प्रकार के कामभोगो मे आसक्त होते है वे पापकृत्य में प्रवृत्त होते है। जब उन्हें कोई धर्म की बात कहता है तो वे कहते है : 'हमने परलोक नहीं देखा और इन कामभोगो का आनन्द तो आँखो से देखा है—प्रत्यक्ष है'।)

ससारी जीवों का यह कथन व्यावहारिक है; क्योकि उनकी दृष्टि केवल कामभोगों से प्राप्त सुख पर ही रही है, किन्तु यदि वे उन सुखों के वियोग के कारण उत्पन्न शोक एवं पीडा को रसानुभूति के क्षणो में भी दृष्टिगत रखे तो वे तत्काल समझ जाएँगे कि इन्द्रियो द्वारा प्राप्त रसानुभूति क्षणिक है और उससे आज तक किसी भी जीव को पूर्ण सन्तोष प्राप्त नही हुआ। स्थायी सुख एव परमानन्द की प्राप्ति के लिए हमे आत्मरस का आस्वादन करना होगा और उसके लिए अध्यात्म के क्षेत्र मे उतरना होगा।

हम जब इस क्षेत्र मे प्रवेश करते है, स्वाध्याय-चिन्तन करते हैं, तब सर्वप्रथम, आभास होता है, उसके बाद प्रतीति, और फिर आचरण-रूप होकर अनुभूति होती है। हमे इस रस को पैदा करने के लिए यह भी देखना होगा कि ऐसा रस किन लोगो ने पैदा किया? जिन्होने उस रस को पाया, उन्हे कैसा आनन्द आया? मीरा जब भक्ति-रस में निमग्न हुई तो उसके लिए पौद्गलिक वस्तुओ का रस सूख गया। उसका ध्यान वस्त्र, आभूषण, स्वजन आदि सभी से हटकर केवल श्रीकृष्ण के चरणो मे सिमिट कर रह गया, इसलिए ससार से उदासीन केवल प्रभुभक्ति मे मग्न, उस मीरा ने विष का प्याला भी पी लिया। वह केवल भक्तिरस मे सराबोर थी और कोई विषय-रस उसके हृदय मे नही था; क्योकि एक समय मे दो भाव नही रह सकते, एक ही लोटे मे दूध व छाछ नही रह सकते। मीरा का हृदय कृष्ण-की-भक्ति में इतना तल्लीन हो गया था कि पाँचो इन्द्रियो के विषयों का रस उसके लिए सूख गया, इसलिये उसने लोकलाज तक को महत्त्व नही दिया। यह सब क्या हुआ? रस का रूपान्तरण हुआ—शरीर से हटकर आत्मा मे, भौतिकता से हटकर आध्यात्मिकता मे केन्द्रित हो गया, लेकिन हमे

यह मिलेगा कैसे? यह सोचना है। आप कहेंगे—हम सभी कुछ तो करते हैं प्रतिक्रमण, सामायिक, पूजा आदि, लेकिन क्या आपको इनसे वास्तव में रस आया? यदि हां, तो संसार का रस खत्म हो जाना चाहिये। हमें यदि संसार में रस आ रहा हो, तो सोचना चाहिये कि जो हमने पढ़ा, जो चर्चा की, वह सब बुद्धिविलास है, जो क्रियाएँ की हैं वे सम्पूर्ण हृदय से अब समझकर नहीं की। जब हम एक तरफ से जुड़ेंगे, तब दूसरी तरफ से अवश्य टूटेंगे।

श्रीमद् देवचन्द्रजी ने एक स्तवन में वीतराग प्रभु से प्रीति जोड़कर आत्मस्वानुभूति की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा दी है—

ऋषभ जिणंद शूं प्रीतडी, केम कीजे हो, कहो चतुर विचार।
प्रभुजी जई अलगा वस्या, तिहां किण नवि हो कोई वचन उत्तार॥

मुझे ऋषभ से प्रीति करनी है तो मैं कैसे करूँ? ऋषभ प्रभु से, वीतराग से प्रीति जोड़ने के लिए वे अति व्याकुल हो रहे थे।

हमें भी कभी-कभी भावोल्लास आता है, लेकिन मन्दिर में कहीं चित्रकारी, कलाकारी देखकर तो नहीं आ रहा है? मूर्ति में जो वीतरागता की शक्ति है, जो वीतराग के गुणों की परिचायक है हमें उन गुणों के प्रति अनुराग आना चाहिये, बहुमान आना चाहिये।

कोई व्यक्ति कहता है—हमारा संसार-रस सूख गया है, अन्य व्यक्ति भी उस व्यक्ति के लिए कहते हैं—हां भई! घण्टों स्वाध्याय, चर्चा ही करते हैं ये। अच्छा है। शुभ में काल व्यतीत हो रहा है, लेकिन वह चर्चा आचरण में उतरी या नहीं? जब वह व्यक्ति खाना खाने बैठेगा तब नमक, मिर्च, घी पर ध्यान न देकर मानेगा कि पुद्गल पुद्गल का काम कर रहा है। हे प्रभो! मैं कब से 'पुद्गल-भोग भिखारी' हो बना हुआ हूँ, जितना रस मुझे इन मखमली गद्दों पर सोने में आता है, क्या उतना ही आनन्द सूअर को कीचड़ में लोटकर नहीं लेता? आत्माभिमुखी प्रवृत्ति वाला व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा चिन्तन में रहेगा।

उसमे यदि सही वैराग्य प्रस्फुटित हुआ तो बाह्य आकर्षण समाप्त हो जाएँगे। हृदय मे वैराग्य हो और बाहर राग मे लिप्त रहे, यह कैसे बनेगा? यदि जड गीली हो तो ऊपर शुष्कता कैसे बनेगी? घड़ा घी मे भरा हो और बाहर चिकनाहट न आये यह कैसे? घड़ा जल से भरा हो और बाहर नमी न हो, यह कैसे हो सकता है?

गाँधीजी श्रीमद् राजचन्द्र से यथावसर अध्यात्म चर्चा करते थे। एक दिन दुकान पर साथ बैठे थे कि एक दलाल मोतियो का एक डिब्बा लाया जिस पर कीमत लिखी थी। श्रीमद् ने खोलकर देखा—मोती आँकी गई कीमत से अधिक मूल्य के थे। श्रीमद् ने कहा—मोती महँगे है, बहुमूल्य है, जरूर सेठ से गलती हो गई है जाओ, वापिस ले जाओ और डिब्बा बन्द करके दे दिया। गाँधीजी ने उसी समय डायरी खोलकर लिखा 'दुकान मे भी धर्म है'। दूसरी ओर लौकिक धर्म है—किसी पार्टी को पटाने के लिए उसे पहले दो रुपये का जूस पिला देते है, कोई भोला आ जाए तो सोचते है कमा लो, आज स्वर्ण अवसर है। श्रीमद् की दृष्टि मे इस अर्थ का, इस द्रव्य का इतना महत्त्व नही था कि जीवन की आवश्यकता मे वह अधिक हो। दूसरे, उन्होंने सेठ की हानि होने के बाद जो आर्तध्यान उसे होने वाला था, उसकी कल्पना कर ली थी। वे जानते थे कि सेठ हानि होने पर जरूर अपने भावों को मलिन कर आत्मा की निर्मलता से वंचित होगे इसलिए वे उस व्यापार मे भी विवेक-धर्मबुद्धि रखते थे। जब कि आज का द्रव्यलोलुप जन धर्मकार्य मे भी वणिक् बुद्धि रखने लगा है। सोचता है येन-केन-प्रकरेण लाख कमा लूं, बीस हजार दान दे दूंगा। इतना दान देकर तो तिर ही जाऊँगा। हम वणिक् है न! नाप-तौल की आदत पड गयी है, लेने-देने की ही याद रहती है। हम अपने अनादिकालीन रस का पोषण करना चाहते हैं, चाहे वह कैसे भी मिले? हमने अनन्त भवो मे अनन्त पदार्थो को भोगा, लेकिन फिर भी तृष्णा नही मिटी।

क्या कभी वह क्षण आयेगा, वह दिवस आयेगा, जब हम इस संसार-रस को छोड़कर वीतरागरस में, आत्म-रस मे डुबकी लगायेगे।

उस रस को पैदा करने के लिए सत्यदृष्टि अपनाकर वैसे भाव बनाने होंगे। बार-बार पुरुषार्थ करना होगा, लक्ष्यपूर्वक प्रयत्न करना होगा, तभी हम अपने प्रयोजन मे सफल हो सकेंगे।

किन्तु जभी लक्ष्य भी निश्चित किया या नही, पाप नही करना, पुण्य करना, लेकिन पुण्य भी लक्ष्य नही है। इहलौकिक कामना को शास्त्रकारो ने विष-क्रिया और पारलौकिक कामना को शास्त्रकारो ने गरल-क्रिया कहा है।

लक्ष्य को सही समझकर किया गया प्रयास ही हम पूर्णता देने वाला है। हमे पाप और पुण्य दोनो से ऊपर उठकर शुद्धात्म के शाश्वत असीम सुख मे रस लेना है। अपने-आपको जानना, पहचानना और उसी मे रमण करना है। यह सुख विलक्षण है, अव्याबाध है तथा देवदुर्लभ है—

ण वि अत्थि माणुसाणं, त सोक्ख ण विय सव्वदेवाणं।
ज सिद्धाण सोक्खं, अव्वाबाह उवगयाणं॥

—उववाइय सूत्र, १८०

अविनाशी अविकार परम रसधाम हो।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हो॥
शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हो।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त हो॥

□

आत्मा-से-परमात्मा

☐ शरीरादि पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि रखने वाला 'बहिरात्मा', इसके विपरीत जिसे आत्मा तथा शरीरादि इतर जड़ पदार्थों में विवेक अथवा भेदज्ञान उत्पन्न हो गया वह 'अन्तरात्मा', तथा कर्ममल से मुक्त 'परमात्मा' होता है ☐ परमात्मा साध्य है, अन्तरात्मा साधक; बहिरात्मपना हेय है ☐ मनुष्य का भिखारी-मन हर समय माँग ही करता रहता है। जैसे-जैसे लाभ होता है, इसका लोभ बढ़ता जाता है ☐ जब दृष्टि बदल जाती है तब जगत् तो रह जाता है; किन्तु जगत् का महत्त्व खो जाता है; शरीर रहता है, लेकिन शरीर में आत्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। इन्द्रियाँ रहती हैं, लेकिन वासनाएँ नष्ट होने लगती हैं फिर व्यक्ति संसार मे तो रहता है, किन्तु संसार उसके हृदय में नहीं रहता ☐ जब अन्तरात्मा निरन्तर विकार-रहित बनता हुआ समाधिभाव की ओर, समभाव की ओर उन्मुख होता चला जाता है, रागद्वेष के स्तर से पूर्णतः ऊपर उठ जाता है, तब परमात्म-स्थिति आती है।

धर्मशास्त्रो मे आत्मा तीन प्रकार की कही गई है—

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अंतरप्पा य।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य ॥

शरीरादि पर पदार्थो मे आत्मबुद्धि रखने वाला 'बहिरात्मा', इसके विपरीत जिसे आत्मा तथा शरीरादि इतर जड़ पदार्थों में विवेक अथवा भेदज्ञान उत्पन्न हो गया, वह 'अन्तरात्मा' तथा कर्ममल से मुक्त 'परमात्मा' कहलाता है। परमात्मा साध्य है, अन्तरात्मा साधक, तथा बहिरात्मपना

तो हेय है। इस दृष्टि से जीव की उक्त तीन संज्ञाएँ अध्यात्म भाषा से सार्थक है।

आरुहवि अंतरप्पा, बहिरप्पो छडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा, उवइट्ठ जिणवरिंदेहि॥

इस जीव ने बहिरात्मा के रूप में अनंत काल व्यतीत किया है। बाह्य आत्मा की दृष्टि केवल बाहरी पदार्थों पर ही लगी रहती है। जगत के भौतिक पदार्थ ही उसके आकर्षण का मुख्य केन्द्र होते हैं। उसके लिए बाह्य जगत के पदार्थ, पद, प्रभुता, और शरीरजन्य सम्बन्ध ही महत्वपूर्ण हैं। ऐसी दृष्टिवाले जीवों को शास्त्रों में मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र कषाय में पूरी तरह आविष्ट होकर जीव और शरीर को एक मानता है अभिन्न मानता है।

मिच्छत्तपरिणदप्पा, तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीव देहमेकं मन्यमानः, भवति बहिरात्मा॥

बहिरात्मा की जीव व शरीर में अभेद-बुद्धि होती है। कभी इसे सत्ता-सम्पत्ति लुभाती है, तो कभी रमणी-का-रूप मदमस्त बनाता है। लेन्देव दृष्टिराग स्नेहराग, एवं कामराग में ही इसके राग का सागर बँधा हुआ है। जड़-भौतिक पदार्थों में इस नश्वर खिलौनों में ही इसकी मति रम्मी रही है। एक भव नहीं दो भव नहीं—अनंत काल से यही क्रम चल रहा है। यह जीव कर्मों की बेड़ी में जकड़ा हुआ संसार परिभ्रमण कर रहा है और अज्ञान एवं मोह से नित्य-नवीन कर्म भी बाँध रहा है। इसका अज्ञान इतना घनीभूत है कि यह जड़ जगत के सुखाभास को ही स्थायी, शाश्वत सुख समझ लेता है और इस सुख के लिए ही रात-दिन प्रयत्न करता है। इसका प्रयत्न कभी भोगविलास के साधन जुटाने में तो कभी धन-सम्पत्ति बटोरने में सक्रिय होता है। यह इस संसार के काम के लिए दौड़ रहा है। किसी भी संसार को पार करता है तो भी धन पाने के लिए किसी मन — करता व किन जाता है तो भी किसी कामना की पूर्ति के लिए।

भागवत में श्रीकृष्ण ने कहा है: 'मुझे धन के लिए भजने वाले बहुत हैं; लेकिन मेरे लिए मुझे भजने वाले बहुत कम हैं।'

व्यक्ति साधना करता है, भक्ति करता है, वह भी इहलौकिक या पारलौकिक कामनाओं से प्रेरित होकर। मेरे पाँव हो जाएँ, मैं सेठ बन जाऊँ, मैं मुकदमा जीत जाऊँ, मैं धन-सत्ता प्राप्त कर लूंगा—आदि-आदि न जाने कितनी ही लालसाएँ उसे भक्ति के लिए प्रेरित करती है।

एक समय हम टोंक की तरफ विहार कर रहे थे। राह में एक जर्जर वृद्ध व्यक्ति साष्टांग प्रणाम करता हुआ चल रहा था। साष्टांग प्रणाम—जिसमे शरीर के आठों अंगों का एक साथ नमन होता है—अर्थात् भूमि पर पूर्णतः लेट कर। वह व्यक्ति एक अँगूठा भी इधर-से-उधर न हो जाए, थोड़ी भूमि न छूट जाए, इस प्रकार सावधानी रखता हुआ अपनी मंजिल तय कर रहा था। एक स्त्री सिर पर मटकी लिए उसके साथ थी।

मेरे मन मे अनेक प्रश्न उठ रहे थे—आश्चर्य भी हो रहा था—इतनी कठिन साधना किसलिए? मैंने उस स्त्री से प्रश्न किया—आखिर, इस यात्रा का उद्देश्य क्या है?

स्त्री ने उत्तर दिया: 'हमारा एक पुत्र अत्यधिक रोगग्रस्त हो गया—चिन्तित होकर इन्होंने 'कल्याण' जी की 'मानता' की कि अगर पुत्र स्वस्थ हो जाएगा तो मैं अपने घर की देहली से साष्टांग नमस्कार करता हुआ आपके दर्शनों हेतु आऊँगा। प्रभु ने हमारी प्रार्थना सुन ली, अतः पूर्ण करने के लिए दर्शनार्थ जा रहे है।'

मेरा मन चिन्तन की गहराई में डूबता-उतराता रहा। देखो! कितना कठिन पुरुषार्थ! अद्भुत भक्ति एवं उच्च साधना तो इस जीव ने अनेक बार की; लेकिन किसलिए? इसी जगत् के भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए, चार दिन के मेले मे मिले इस परिवार के लिए। इस आत्मा ने अनेक बार—परिवार पाया, खोया, पाया-खोया।

यह क्रम न जाने कब से ही चला आ रहा है। यह जीव जन्म के क्षणों में जुड़ता है और मृत्यु के क्षणों में टूटता है। जन्म ग्रहण करते ही नये परिवार से जुड़ जाता है, नये सम्बन्धी प्राप्त कर लेता है, धन-सम्पत्ति से जुड़ जाता है। धीरे-धीरे युवावस्था में श्वसुर-पक्ष से जुड़ जाता है। व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश करने के पश्चात् तो उसका कार्य-क्षेत्र, उसकी परिचय-सीमा सभी बढ़ते चले जाते हैं। एक समय ऐसा जरूर आता है कि भले ही वह कितना ही क्यों न जुड़ा हो, लेकिन मृत्यु उसे एक क्षण में तोड़ देती है—शरीर से भी, परिवार से भी, धन व सत्ता से भी। वह क्षण-भर में सभी से सदा के लिए विदाई ले लेता है। फिर वह आत्मपंछी उड़ कर कर्मों के अनुसार चार गति-रूप संसार के किसी कोने में जाकर नया बसेरा बना लेता है, फिर से नये सम्बन्ध जुड़ जाते हैं। वह कमाया हुआ धन, बनाया हुआ सामान, पाया हुआ परिवार—सब यहीं रह जाते हैं और वह सम्बन्ध व सामान के पाने-खोने में अर्जित किए गए राग-द्वेष रूप परिणामों को साथ लिये चला जाता है।

इसलिए ज्ञानी संत कहते हैं—'अरे मानव! अपने ज्ञान-चक्षु खोल, विवेक-का-दीपक प्रज्ज्वलित कर, तू कहाँ भटक रहा है, इस 'चौरासी' में क्या भटक रहा है? यह धन तेरे किसी काम नहीं आने का—फिर क्यों व्यर्थ इसे पाने के लिए मचल रहा है और पाप कमा रहा है—इण संसार सगो नहीं कोई। लेकिन मानव का यह अज्ञानी मन कभी तृप्ति का अनुभव नहीं करता, कभी संतोष नहीं धारण करता। उसकी एक ही कामना होती है—पा जाऊँ, पा जाऊँ और ... और ...। फिर वह लोभान्ध व्यक्ति यह नहीं देखता कि उसकी कामनापूर्ति में कोई घर उजड़ तो नहीं रहा, किसी की आँखें आँसू तो नहीं बहा रहीं, क्योंकि उसका केवल एक ही उद्देश्य होता है—कैसे भी पा जाऊँ। मानव का यह भिखारी-मन हर समय माँग ही करता रहता है।

एक राजा का नियम था कि दिन के प्रथम पहर में जो भी प्रथम व्यक्ति उससे मिलेगा उसे उसकी इच्छानुसार भरपूर दान

दूंगा। अपने नियम का वह अक्षरशः पालन भी करता था। एक दिन एक भिक्षुक आया। राजा ने प्रसन्नता से उसका स्वागत किया: अहो! मैं प्रतीक्षा में ही था कि कोई अतिथि आये और मैं उसके सत्कार का लाभ लूं। कहिये, क्या सेवा है?'

भिक्षुक ने अपना पात्र आगे कर दिया और कहा—राजन्! इसे भर दो। राजा ने भरना प्रारम्भ किया, भरता ही जा रहा है; लेकिन पात्र खाली-का-खाली। राजा हैरान-परेशान हो गया, यह क्या? कैसा पात्र? कितना धन डाल दिया इसमें, लेकिन यह तो भरता ही नहीं। सारा धन दान के लिए ही तो नहीं है। प्रजा-सुरक्षा, राष्ट्र-व्यवस्था आदि अनेक उत्तरदायित्व हैं। तो क्या करूँ? इन्कार कर दूं? नहीं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जांहि पर वचन न जाई।

प्रण का पालन तो करना ही है। राजा देता ही चला गया—अन्त में, उसने एक प्रश्न पूछा 'भिक्षुक! क्या तुम बताओगे यह पात्र किस धातु का बना है?' भिक्षुक मुस्कराया और बोला—'राजन्! यह पात्र बना है—मनुष्य के मन से।' मनुष्य का मन ऐसा ही है: जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे इसका लोभ बढ़ता जाता है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

यह मानव-मन हर समय कामनाओं से जकड़ा रहता है।

जो दस बीस पचास भये, शत होय हजार तो लाख मँगेगी।
कोटि अरब खरब असंख्य, धरापति होने की चाह जगेगी॥

इस बाह्य आत्मा की चाह का कहीं अन्त ही नहीं है। सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिए, धन-दौलत पाने के लिए वह धर्म की सौगन्ध भी खा ले, मन्दिर में मूर्ति का स्पर्श भी कर ले, ईमान बेच दे:
धन आए मुट्ठी में, ईमान जाए भट्टी में।

बस, अब धन आना चाहिए, यह तो उनकी दृष्टि में परमात्मा से भी बढ़कर है। एक शायर ने कहा भी है—

> माना कि ए जर ! तू खुद खुदा नहीं।
> पर खुदा की कसम तू खुदा से कम भी नहीं ॥

बाह्य आत्मा की दृष्टि बाह्य पदार्थों में ही होती है। तब तक जीव को जीव का बोध नहीं होगा, जड़-चेतन का भेदज्ञान नहीं होगा तब तक वह बहिरात्मा ही बना रहेगा—

> बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुख ।
> स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ?

आत्मविमुख बहिरात्मा पुद्गल द्रव्य का अभिनन्दन करता हुआ उसी को आत्मसात् करने का प्रयास करता हुआ, पुद्गल-संयोग से स्वोन्नति तथा पुद्गल-वियोग से अपनी अवनति मानता है क्योंकि पुद्गल के प्रति उसका आकर्षण है। यदि बहिरात्मा की दृष्टि नहीं बदलेगी, तो पुरुषार्थ नहीं बदलेगा, लेकिन जब दृष्टि बदल जाती है, तब जात् तो रह जाता है, किन्तु जात् का महत्त्व चला जाता है, शरीर रह जाता है, लेकिन शरीर में आत्मबुद्धि समाप्त हो जाती है। इन्द्रिया के विषय रह जाते हैं, लेकिन वासनाएँ नष्ट होने लग जाती है। फिर व्यक्ति संसार में तो रहता है लेकिन संसार उसके हृदय में नहीं रहता—वह परिवार में रहता है, लेकिन परिवार के प्रति रागभाव उसमें नहीं रहता, वह शरीर में रहता है, लेकिन शरीर के प्रति उसकी ममत्व बुद्धि नहीं रहती, वह शरीर और आत्मा के भेद-ज्ञान को समझ लेता है। अन्तरात्मा ज्ञानचेतना से भावित अन्तःकरण वाला, अनासक्त होकर निश्चिन्त रहता है—

> दुनिया में रहता हूँ दुनिया का तलबगार नहीं।
> बाजार से निकला हूँ मगर खरीदार नहीं ॥

जो जल-कमलवत् जीवन जीता है, जगत् मे रहकर जगत् के सम्बन्धो को कर्त्तव्य-बुद्धि मे निभाने मे मतर्क व मावधान रहना है वह कर्त्तव्यशीलता का हर क्षेत्र मे परिचय देता है। अपने जीवन मे आने वाले उतार-चढाव, योग-वियोग, मुख-दु ख, हर्ष-विषाद आदि सभी परिस्थितियो को पुण्य व पाप कर्म की पर्याय मानकर दोनों मे तटस्थ-वृत्ति धारण करता है । इस प्रकार के समत्व-भाव का विकास ही उसकी साधना का चरम परिणाम होता है । जगत् की विषमता, विचित्रता, विविधता मे वह समभाव रखने का प्रतिपल, प्रतिक्षण, प्रतिममय जो प्रयास करता है वही ज्ञानियो की दृष्टि मे अन्तरात्मा है : **अंतरप्पा हु अप्पसंकप्पो ।**

आत्मसंकल्प—देह से भिन्न आत्मा को स्वीकार करने वाला अन्तरात्मा है । उसके हृदय मे जगत् के जीवो के प्रति महज करुणा एवं मैत्री का विस्तार हो जाएगा । वह सबके साथ आत्मीयता की अनुभूति करेगा और जगत् के मुख-मे-सुखी एव जगत के दु.ख-मे-दु.खी होगा ।

अन्तरात्मा असयमी, संयमासंयमी, संयमी भेद से त्रिविध होता है। पंच परमेष्ठियो में आचार्य, उपाध्याय, तथा माधु अन्तरात्मा है।

जब अन्तरात्मा निरन्तर विकार-रहित बनता हुआ समाधिभाव की ओर, समभाव की ओर उन्मुख होता चला जाता है, रागद्वेष के स्तर से/ऊपर उठ जाता है तब परमात्मा स्थिति आती है । सभी विकारो-से-रहित सम्पूर्ण कर्मो से रहित आत्मा परमात्मा है : **कम्मकलंक विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ।**

कर्मकलक-से-विमुक्त आत्मा परमात्मा है । जो अनादि से चले आ रहे संसार-भावो का सर्वथा विसर्जन करके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वरूप सहज शुद्धात्मभाव मे रमण करता है, वही परमात्मा है। इसी शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए इस जीव को बहिरात्मा व अन्तरात्मा

मे स्वरूप को समझना है, क्योंकि बाह्य आत्मा जब तक अंतरात्मा के रूप मे भावो से रूपान्तरित नही होगा, तब तक वह शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्रकट नही कर सकेगा। स्वर्ण की चमक तो स्वर्ण मे ही है, किन्तु उसकी प्रत्यक्ष प्राप्ति के लिए उस पर आये मैल को हटाने का तो प्रयत्न करना ही होगा। इसी प्रकार परमात्मपद प्राप्ति के लिये बहिरात्मभाव को छोड़कर अन्तर-आत्म भावो मे प्रवेश पाना होगा।

किन्तु वह स्थिति हम प्राप्त कब करेंगे? जब हम उस ओर पुरुषार्थ प्रारम्भ करेंगे। जब मन का रग राग जाएगा, उसके बाद दुनिया का कोई रग नही चढेगा। जो सन्मार्ग मे रम गया फिर वह अन्य विषयो मे नहीं भरमायेगा।

प्रीतम छवि नैना बसी, पर छवि कहाँ समाय।
रहिमन भरी सराय मे, आप पथिक फिर जाय॥

(प्रियतम की छवि मेरे अगो मे बस गई, मेरे पूरे शरीर मे उनका प्रेम व्याप्त हो गया, अब दूसरे के लिए अवकाश कहाँ?)

जिसके हृदय मे सत्य की ज्योति दीप्त हो उठी—फिर उसके हृदय मे विषय-कषायो के लिए अवकाश कहाँ! सर्वत्र अनवकाश। □

अपना चित्र : कौन-सा चित्र ?

□ आज मै मनुष्यगति में हूँ, इसके पूर्व कहाँ थी एवं इसके बाद कहाँ रहूँगी, इसका किसे पता है, कौन कह सकता है? पर रहूँगी निश्चित······क्योंकि जीव द्रव्य तो अविनाशी है □ प्रत्येक द्रव्य में जो परिवर्तन होता है, वह पर्याय में होता है, मूल में नहीं □ मैंने आत्मा को आत्मरूप में स्वीकार न करके केवल शरीर के प्रति ही 'मै' की भावना की है और इसी भ्रम के कारण भव-भ्रमण होता रहा है, जिसे जैनदर्शन की परिभाषा में 'मिथ्यात्व' कहते है □ सद्‌गुरु कृपा से वीतराग वाणी से अव समझ में आया कि मेरा अपना चित्त अरिहन्त स्वरूप है, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है। चार घातिया कर्मों के क्षय के वाद मेरा पूर्ण आत्मस्वरूप प्रकट होगा, वह मेरा अपना चित्र है, जिस चित्र के वाद दूसरा चित्र होगा ही नहीं, दूसरी गति होगी ही नहीं, दूसरा भव होगा ही नहीं, अगला कदम होगा सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति, अव्यावाध, अगुरुलघु आदि गुणों से युक्त।

अक्सर हम यह कहा करते है कि मुझे अपना यह चित्र पसन्द है अथवा यह चित्र वहुत अच्छा है। हम एक वार नही वार-वार उस चित्र को देखते है, वड़ी देर तक देखते रहते है, वडी प्रसन्नता मे देखते है, मन ही मन मुस्कराते है, कितना अच्छा है मेरा यह चित्र! पर प्रश्न है कि हम किस चित्र को अपना चित्र कहे?

चित्र यानी हम, हमारी आकृति जैसी भी है जो भी है उसी छवि को फोटोग्राफर कागज पर उतार देता है—जिसे हम चित्र की संज्ञा देते हैं, अतः चित्र हुआ हमारा आकार, हमारी शरीराकृति।

चित्र देखते-देखते मन चिंतन की गहराई में खो गया—एक क्षण नहीं, बड़ी देर तक खोया रहा। इतने चित्र देखे, इतने अधिक देखे कि उनकी संख्या हजार, दस हजार, लाख, दस लाख, बीस लाख इतनी ही नहीं करोड़, अरब खरब तक ही गई, संख्या, असंख्य तक रुकी तो जाकर अनन्त में।

अनन्त चित्र, अपने ही, किसी और का एक भी नहीं, केवल अपने चित्र, केवल अतीत के इतने चित्र। सूक्ष्म निगोद, बादर निगोद, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन सब के भी अवान्तर, असंख्य भेद। उनमें भी अनेक समुद्र में रहने वाले, बहुत से धरती पर रेंगने वाले, अनेक आकाश में उड़ने वाले, बहुत से चार पाँवों से चलने वाले। कितने गिनाऊँ उनकी कोई सीमा नहीं संख्या नहीं। सच कहती हूँ सब अनन्त ही चित्र।

यह बात सुनकर आपको अजीब तो नहीं लग रहा है कहीं मेरे कथन से आपने मुझे बावरी तो नहीं समझ लिया, कहीं केवल गप्प समझकर उधर से अपने मन को हटा तो नहीं लिया। विश्वास कीजिए, मैं जिनवाणी के आधार पर श्रद्धापूर्वक कह रही हूँ, केवल अपने अतीत का देखा है व्यतीत का लेखा है, आगत का नहीं।

क्या यह विचित्र बात है कि इतने चित्र मेरे कैसे? मैं एक हूँ, मेरी आकृति एक है, और चित्र अनन्त कैसे हो सकते हैं? हो सकती हैं केवल उस एक चित्र की जितनी चाहे उतनी प्रतियाँ।

नहीं बात ऐसी नहीं है। जो कुछ कहा जा रहा है वह नितान्त सत्य है। हर भव का, हर शरीर का चित्र तो एक ही होता पर अनन्त भवों में मिली नाना पर्यायों के रूप कितने रहे? सभी हो जाता था अपने कर्मों के अनुसार चार गतियों में लख चौरासी योनियों में

भटकती रही। देव और नरक गति के चित्रों को कुछ देर के लिए हम छोड भी दे, क्योंकि वे श्रद्धा के विषय है, प्रत्यक्ष नही। पर तिर्यंच गति के अन्तर्गत जितने जीवधारी हमें दिखाई दे रहे है—चींटी, हाथी, कुन्थु, घोडा, गधा, गाय, कबूतर, कौआ, चिडिया आदि अनगिनत आकृतियाँ प्रत्यक्ष, आँखों से दिखाई देती है—इन सभी मे सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही है, सभी मे सिद्धो के समान शक्ति है, सभी मे चेतना—शक्ति है। उन सभी आत्माओ मे व मेरी आत्मा मे कोई भेद नही, शक्तित सब समान है। आज मैं मनुष्य पर्याय मे हूँ, इसके पूर्व कहाँ थी, एवं इसके बाद कहाँ रहूँगी, इसका किसे पता है, कौन कह सकता है? पर रहूँगी निश्चित क्योंकि आत्मद्रव्य अविनाशी है, पानी उसे गला नही सकता, शस्त्र उसे काट नही सकता, अग्नि उसे जला नही सकती। न कोई उसे मिटा सकता है, न उसे कोई मिला सकता है, न बदल सकता है। यह है आत्मा! यह नही बदलती; किन्तु सकर्मा होने से सशरीरी है और इसलिए हर भव में नया शरीर धारण करती है, इसकी आकृति, इसका रग-रूप, इसकी जाति, वेश, देश सब कुछ बदलता है कर्मो के अनुसार पर आत्मा नही बदलती। जैसे स्वर्ण की बनी अँगूठी को तुडवा कर चेन बनवा ली तो अँगूठीरूप आकृति का अन्त हो गया चेन रूप नयी आकृति का जन्म हो गया, किन्तु स्वर्ण जो पहले था, वह अब भी है। इस तरह प्रत्येक सत्पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त है। परिवर्तन पर्याय मे ही होता है, मूलद्रव्य मे नही।

हाँ, तो केवल आज उपस्थित चित्र को ही नही, हर भव में, हर गति मे, हर योनि मे सर्वत्र कोई-न-कोई चित्र रहा है, जिसे मैं अपना कहता रहा हूँ, मानता रहा हूँ। प्रत्येक भव मे जो भी आकार मिला, वहाँ वही मेरे लिए अपना चित्र रहा है; क्योंकि मैंने आत्मा को आत्म-रूप मे स्वीकार न करके केवल शरीर के प्रति ही 'मैं' की भावना की है और इसी भ्रम के कारण भव-भ्रमण होता रहा है, इसे जैन दर्शन की परिभाषा मे मिथ्यात्व अवस्था कहा जाता है।

हा, तो मैंने देखे अपने अनेक रूप, अनेक चित्र और प्रत्येक भव मे मैंने अपने उस चित्र को ही अच्छा समझा, उसके प्रति आसक्त रहा, 'मैं' 'मेरे' के भाव सदा बने रहे सब जगह बने रहे। ऐसी स्थिति मे केवल मनुष्य शरीर के चित्र को ही अपना चित्र कैसे मानू—जैसे आज इसे मान रही हूँ। वर्तमान आयु पूरी होने पर अगला जो भव मिलेगा, उसको फिर मैं अपना कहने लगूँगी। यह स्थिति आज की नहीं, अनन्त काल से चली आ रही है, अत 'मेरे चित्र अनन्त' कहने मे सकोच का प्रश्न ही नही उठता ।

अब अगला प्रश्न बडा महत्त्वपूर्ण है कि कोई चित्र बनता कैसे है? चित्र बनता है चरित्र के आधार पर। जैसा चरित्र होगा चित्र के रग भी वैसे ही होगे, अतएव हमे सद्गुरु की कृपा से, वीतराग वाणी से यह भी समझना है कि अनन्तकाल के अनन्त चित्र, जिन्हे मैं अपना कहती रही, उनमे मेरा अपना एक भी नहीं था। ये सारे चित्र विभाव दशा के, मिथ्या भावो के, विषयकषायो से प्रेरित चतुर्गतियो के चित्र थे, इन सबमे मैं था, किन्तु वह मेरा असली रूप नहीं था सभी विभाव दशा के नकली चित्र थे।

सद्गुरु कृपा से, वीतराग वाणी से अब समझ मे आया है कि मेरा अपना चित्र अरिहत-स्वरूप है, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है। चार घातिया कर्मों के क्षय के बाद मेरा पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होता है, वह मेरा अपना चित्र है जिसके बाद दूसरा चित्र होगा ही नही, दूसरी गति होगी ही नहीं, दूसरा भव होगा ही नहीं, अगला कदम होगा सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति, अव्याबाध, अगुरुलघु आदि गुणो से युक्त।

इस अरिहत स्वरूप चित्र की प्राप्ति के लिए मनुष्य जीवन मे 'चारित्त खलु धम्मो' को अंगीकार कर चारित्र धारण करना होगा, क्योंकि सयम या चारित्र भी इसी जीवन मे धारण किया जा सकता है और यही मनुष्यदेह मोक्ष का द्वार है। □

मनुष्य-देह : दुर्लभ कितनी !!

□ नर-देह की दुर्लभता का गान क्यों? जब सभी जीवधारियों में एक-सी ही आत्मा है और आत्मा में अनन्त शक्ति है, तो फिर सभी पर्यायों में कल्याण क्यों नहीं? □ यह निश्चत समझो कि जिसे आज तिर्यंच पर्याय में बोध प्राप्त हो रहा है, वह भी कहीं न कहीं, किसी-न-किसी रूप में उसके द्वारा मानव-जीवन के प्रश्न के प्रबल पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप ही है। पूर्व में कभी किसी मानव-भव में की गई उसकी साधना ही इस भव में उसकी सहयोगी बन रही है □ अनादिकाल से यह जीव भरमा रहा है और इसे (देह को ही) अपना मान बैठा है, पर रे जीव! यह तू नहीं यह तो मेरी बिल्डिंग है, बदलने वाली पर्याय है, तू तो आत्मतत्त्व है □ तू आंशिकता में पूर्णता की अनुभूति करने वाला अहंकारी बन जाता है □ व्यक्ति पुण्यबन्धन मे ही धर्म समझ लेता है और उसीसे चिपक जाता है। पुण्य पुण्य है, पाप की अपेक्षा वह अच्छा है, देवगुरुधर्म की आराधना का सुयोग जुटाता है परन्तु वह साधन ही है साध्य नहीं ।

जीव को जीव का बोध कैसे हो? आत्मा को आत्मा का ज्ञान कैसे हो? चेतना को चेतना का भान कैसे हो? इसी उद्देश्य को लक्ष्य मे रखकर सत्संग मे चर्चा करनी है। सत्संग में हम 'सत्' की चर्चा श्रवण करने के लिए आते है। हो सकता है आपमे से किसी

के दिमाग मे यह विचार आये कि प्रतिदिन एक ही विषय की चर्चा क्या ?

प्रभुओ ! हमने अनन्त काल तक अनन्त पदार्थों की चर्चा की, उनमे डूब रहे, पर उस 'सच्चिदानन्द' की हमने चर्चा तक नही की। उस आत्मतत्त्व का चिन्तन ही नही किया। अनन्त पदार्थो का चिन्तन किया, उन अनन्त पदार्थों मे हमारी गहरी आसक्ति रही, उन्ही मे जुड़ते, व टूटते रहे । अनन्त मे जुड़कर भी हम स्वकीय आत्मतत्त्व मे नही जुड़े अतएव हमे 'सत्' की अनुभूति नही हुई क्योकि 'सत' का स्वरूप पहचाना नही । क्या आत्मा सवत्र नही रही । निगोद, एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय इन विविध पर्यायो, योनियो मे यही आत्मा रही । जो आत्मा हम मे है वैसी ही आत्मा सभी जीवधारियो म है, जो सब मे है वैसी ही हम मे है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जब सब म वही आत्मा है तो फिर 'नर ! तेरा चोला रतन अमोला' इस प्रकार क्यो गाया जाता है ? नरदेह की दुलभता का गान क्यो ? जब सवत्र यही आत्मा है और आत्मा अनन्त शक्ति है तो फिर सभी पर्यायो मे कल्याण क्यो नही ? बन्धुओ ! आत्मा आत्मा है, उनमे अनन्त शक्ति भी है, लेकिन मनुष्यपर्याय को छोडकर वह अन्यत्र अपना कल्याण कर सके, क्या ऐसी शक्ति, ऐसे निमित्त, साधन उसके पास है ?

एक मनुष्यपर्याय ही ऐसी है जिसमे जीव अपनी उपादान शक्ति से योग्य निमित्तो के सद्भाव म आत्म-कल्याण हेतु प्रवृत्ति कर सकता है। अन्य हीन पर्यायो म यह प्रवृत्ति बनती नही और फिर रुचि न हो तो मनुष्य पर्याय पा लेने के बाद भी सब अपना कल्याण कर लें—यह आवश्यक नही ।

बीज बीज है उसम वृक्ष बनने की शक्ति है, पर क्या सभी बीज वृक्ष बन पाये ? नही । कुछ बीज बीज रूप ही है, कुछ सूख गये, कुछ गल गये, और कुछ वृक्ष बन गये। कारण ? उन्हे सभी अनुकूल साधन मिल गये, कृषक, वायु, जल, मिट्टी और उनकी सुरक्षा—इन सभी का

सम्यक् योग होने पर बीज वृक्ष बन पाता है अन्यथा आज भी हजारों बीज ऐसे पड़े हैं जिनमें वृक्ष बनने की शक्ति है पर वे बीज रूप में ही पड़े हैं। वृक्ष के लिए बीज उपादान कारण है, पर उसके लिए उचित जलवायु आदि भी आवश्यक है। यही स्थिति आत्मा की है। उसे सत्यानुभूति के लिये उचित निमित्त की आवश्यकता है। अनुकूल संयोग, निमित्त नहीं मिलने पर अव्यक्त शक्ति व्यक्त नहीं हो पाती। घास में भी किसी-न-किसी रूप मे घी विद्यमान है। घी केवल दूध, दही, मक्खन मे ही नही अपितु घास मे भी है, घास मे भी घी है पर वह व्यक्त नही। घास मे विद्यमान घी के कण ही कालान्तर मे गाय के द्वारा चर्वित होकर दूध, दही आदि से घी के रूप मे अभिव्यक्त होते है। हाँ, छाछ, मक्खन से जितना जल्दी घी निकल सकता है उतना जल्दी घास मे नही। यही बात मानव की है। यहाँ सैकडो चींटियाँ हैं, पर क्या उनमें श्रवण करने की क्षमता है? कितने ही तिर्यंच प्राणी भ्रमण कर रहे है पर क्या उनमे समझने की शक्ति है? क्या वे जानते है कि इस विशाल पण्डाल को बनाने का क्या प्रयोजन है? क्या तिर्यंच इस वाणी को श्रवण करके भी इसमे निहित भाव-भाषा को जान रहे है? यहाँ कोई कह सकता है कि कितने ही दृष्टान्त है जिनमे जीवो ने तिर्यंच योनि मे अपने जीवन को समझा तथा बदला, उन्हे पशुपर्याय में बोध हुआ, ज्ञान मिला? इस बात को हम देखते हैं, सुनते भी हैं, पर बन्धुओ! यह निश्चित समझो कि जिसको तिर्यन्च योनि मे ज्ञान प्राप्त हुआ वह भी कही-न-कही, किसी-न-किसी रूप मे उसके द्वारा मानव-जीवन के प्रबल पुरुषार्थ के परिणामस्वरूप ही है। पूर्व मे कभी किसी मानवभव मे की गई उसकी साधना ही इस भव मे उसकी सहयोगी बन रही है।

चण्डकौशिक सर्प ने अपने संस्कारों को पूर्वभव में पुष्ट किया था। आकस्मिक भूल के कारण उसके लिये तिर्यच गति के द्वारा खुले और वह भी विषधर, सर्प के रूप मे, जो जिधर भी दृष्टि डाले उधर ही स्वाहा। भगवान् महावीर ने उसे प्रतिबोध दिया, 'बुज्झ बुज्झ

चण्डकौशिया।' उस रूप, उस वेश उस शांत मुद्रा ने उसे भी शान्त कर दिया—चिंतन में, विचार में डूब गया चण्डकौशिक सर्प, यह कौन है जो मेरे सम्मुख इतनी निर्भीकता से खडा है, मेरी तो दृष्टि-मात्र से सब भस्म हो जाते है, किन्तु इसका शान्त चेहरा। प्रेरणा मिली उस सर्प को लौटने लगा प्रभु के चरणों में, स्मृति हो आई अपने अतीत (पूर्व-भव) की। ओह! क्रोधावेश ने मुझे कहाँ पटक दिया? संयमी वेश में असंयमी बना, क्रोध पर संयम नहीं रहा। अहं जाग्रत हो उठा, अतः शिष्य के कहने पर स्वयं की भूल को भी स्वीकार नहीं किया मैंने अपितु उसे ही कहा कि तू कौन होता है मुझे बताने वाला? वह कौन सी भूल थी? मार्ग में चलते-चलते एक मेंढकी पाँव के नीचे आ गई थी। शिष्य ईर्या-समितिपूर्वक चल रहा था। शिष्य ने देखा—गुरुजी के पाँव के नीचे मेंढकी मर गयी है और गुरुजी को ध्यान नहीं, अतः दिन में की जाने वाली आलोचना के क्षणों में उसने याद दिलाया, मैं टाल गया। जब व्यक्ति को पद का अहं आ जाता है, तो वह व्यर्थ बरसता है, उसका अहं अनर्थ कराता है। मुझे उचित विवेक न आकर, अनुचित विकल्प आ गया, मैं गुरु यह चेला, मुझे कहने वाला यह कौन होता है? मैं गुरु हूँ, यह चेला है, छोटा है। सत्य सत्य है, असत्य असत्य। सत्य असत्य का यह विवेक बच्चे का भी हो सकता है अतः यदि बच्चे की बात भी सत्य है, विवेकपूर्ण है तो उसे स्वीकारना चाहिये। मात्र बडे होने के अहं, दम्भ को लेकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना उचित नहीं।

रात्रि में शयन करने से पूर्व एक पाठ बोला जाता है, जिसे राइ-संथारा कहते हैं। इसमें दुष्कृत कार्य की आलोचना कर सभी से क्षमापना करते हैं। मैं एक हूँ, शाश्वत हूँ, मैं किसी का नहीं, कोई मेरा नहीं, इस प्रकार आत्मस्वभाव का चिंतन करने के बाद शयन करना होता है। शिष्य ने इन क्षणों में पुनः मुझे याद दिलाया—इस पर क्रोधाभिभूत मैं शिष्य पर उठा ले दौडा—कौन होता है तू मुझे बार-बार कहने वाला? सर्दी की घोर रात्रि का सघन अंधकार, जो दौडा तो

अपना सिर फोड़ा। एक खम्भे से सिर टकराया, सिर ही नहीं फूटा, प्राणान्त हो गया, गति बदल गयी। आर्त्त-रौद्र ध्यान के वशीभूत हो तिर्यंच योनि का आयुष्य बाँध लिया।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि तिर्यंच भव मे विवेक आ रहा है तो वह भी पूर्व के मानवभव की साधना का ही परिणाम है, मानव-भव के संस्कारो का ही परिणाम है। भूल का परिणाम सभी को भोगना पड़ता है। जब तक जीव का सत्य से परिचय नही होता तब तक यह नाम का, रूप का, पद का अहं सिर पर ढोता है। पद सत्ता से स्वयं को तौलता है, मैं डॉक्टर, मै मास्टर, मै वकील, मै जज। अरे! किसका नाम, किसका रूप, किसकी सत्ता? ये सब तो 'बिल्डिंग' के नाम है (शरीर की ओर संकेत करके) और हम इसे अपना नाम, अपनी उपाधि मान बैठे है। यही मूल मे भूल है। रास्ते मे चलते हुए हम मकानों पर देखते है – कही लिखा है शान्तिभवन, कही लिखा है सन्तोष भवन, जवाहर निकेतन आदि-आदि। यह नाम आपका है या आपकी बिल्डिंग का? यह तो मकान का नाम है तो माता-पिता आदि के द्वारा जो नाम हमें दिया गया है वह नाम भी इस पंचभूत तत्त्व से निर्मित हाड-मांस के पुतले का है। मैं अर्थात् आत्म-तत्त्व तो अनाम है इसका नाम कैसा? यह अरूपी है इसका रूप कैसा? मैं गोरा, मै काला, पर आत्मा तो वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से सर्वथा रहित है। अनादि काल से यह जीव भरमा रहा है और इसे ही अपना मान बैठा है पर रे जीव! यह तू नही यह तो तेरी बिल्डिंग है, बदलने वाली पर्याय है। तू तो आत्मतत्त्व है। आज उत्तम पर्याय हमे मिली है पर हम भ्रमित हो इसे ही (देह को ही) अपना मान बैठे, यह समीचीन नहीं। यदि यह शरीर अपना होता तो हर भव मे इसका एक ही नाम होता, यह सदा-सदा साथ रहता–**जो मेरो है सो जावे नहीं, जो जावे है सो मेरो नहीं**। यह नाम हमें कब मिला? विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह शरीर नौ मास माँ के गर्भ मे रहा तब भी यह अनाम ही था, जन्म के बाद बुआ द्वारा, पण्डित द्वारा, या अन्य किसी कुटुम्बी द्वारा नामकरण

हुआ और फिर तो यह इसे ही अपना नाम मान बैठा। नाम आपका नहीं, आपकी इस बिल्डिंग का है–पर इसे ही अपना माना, इस नाम के प्रति मूर्च्छा इतनी बढी कि नाम के लिये मरने-मारने को तैयार हो गया जलने को तैयार हो गया, नाम राग-द्वेष का कारण बन गया। यदि अनन्त काल का चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि हमने कितना सहा पर यदि आज कोई दो शब्द भी कटु कह दे तो हम कहते हैं–कौन होता है हम कहने वाला? जरा चिंतन करें, दृष्टिपात करे तिर्यच योनि की ओर–कितने प्रहार सहन किये, कितना सहा बैल बनकर, घोडा बन कितनी चाबुकें खाइ। एकेन्द्रिय मे कितना सहा? वृक्ष बन आंधी-तूफान, मूसलाधार बरसात मे कितना सहा? कितनी ताडना, तर्जना प्राप्त की विविध योनियो मे–पर आज स्वयं उच्च पद पाकर इठला रहा है, इतरा रहा है–मैं, मैं, और मैं ।

आज हाथ मे सामान का भरा एक थैला लेकर चलने मे शर्म का अनुभव करता है, दो कदम चलना हो तो सवारी की ओर देखता है, कोई काम हो तो नौकर को पुकारता है। (स्त्रियो की ओर उन्मुख हो) मैं और बरतन साफ करूँ? अरे बहिन! अभी तो तुम्हारे हाथ सक्रिय और सशक्त हैं। परिवार के प्रियजनो ने जिन पात्रो मे भोजन किया है, उन्हे साफ करने मे शर्म किस बात की? आज हमारी भारतीय संस्कृति भी न जाने किस ओर बह रही है? हम पाश्चात्य सभ्यता के उपासक बन गये है, पर नकल मे आवश्यकता है अकल की। वहा का परिवेश, वहा का वातावरण, रीतिरिवाज सभी तो भिन्न है। आज का पुत्र अपने पिता को पानी का गिलास भर कर देने मे सकोच करता है। पिता पानी के लिए कहे तो नौकर को, पत्नी को, या अन्य किसी को ऑर्डर दे देता है। उसे यह विचार नही आता कि ये मेरे पिताजी हैं। हा सकता है बेटा किसी ऊँचे सरकारी पद पर हो, वह दुनिया के लिये चाहे जो हो, पर पिता के लिए तो पुत्र ही है। आप दुनिया के लिए भले ही बडे बने हो, पर वास्तव मे आप बडे बन ही नही। यदि बडे बनते तो विनय आता, अभी अधूरापन है, छिछलापन

है। 'अधजल गगरी छलकत जाए'—आंशिकता में पूर्णता की अनुभूति करने वाला अहंकारी बन जाता है। अहं को ठेस लगने पर क्रोध जाग्रत हो जाता है। जब अपेक्षा उपेक्षा में बदल जाती है तो क्रोध का प्रादुर्भाव होता है। गुरुजी नहीं चाहते थे कि चेला मुझे कुछ कहे, लेकिन चेले ने उन्हे सत्य बात बतानी चाही और गुरुजी के क्रोध ने उन्हे कहाँ धकेल दिया, चोला कितना बदल गया: मनुष्य, और उसमें भी संयमी वेश, मन बदला तो गति बदली, सर्प का चोला पाया लेकिन पूर्वभव की साधना का परिणाम यह निकला कि प्रभु वीर की वाणी श्रवण करते ही चिंतन किया, विचारा, पश्चात्ताप करने लगा; अतीत देखा, अतीत की दिनचर्या का विचार किया, अहो प्रभु! कितना उठ कर भी कितना नीचे गिर गया।

यहाँ यह प्रसंग यह बताने के लिए चला कि कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी मनुष्य-भव की साधना ही तिर्यच को प्रेरित करती है अर्थात् यदि कोई तिर्यच प्राणी आज बोध को प्राप्त कर रहा है तो कहीं-न-कहीं वह मानव-वेश मे साधना करके आया है।

बन्धुओ! मानवजीवन हमे मिल गया है, आत्मज्ञान के लिए विकसित ज्ञान-तन्तु भी मिल गये है, आत्मानुभूति के साधनरूप देव, गुरु, धर्म की भी प्राप्ति हो गई है। सभी अनुकूल निमित्त हमारे सामने हैं पर हमारा प्रमाद, हमारा आलस्य ही हमारे विकास मे बाधक है। एक व्यक्ति भूखा है, उसमे रसोई बनाने की ताकत भी है, आधुनिक ढग से निर्मित एक व्यवस्थित रसोईघर भी उसके सामने है जिसमे सभी वस्तुओं के नामादि भी लिखे है पर उसमे यदि पुरुषार्थ नहीं है; तो वह भूखा ही रहेगा। यदि निमित्त से काम न ले, तो निमित्त निमित्त ही रह जायेगे, यदि पुरुषार्थ नहीं तो परिणाम भी नहीं। कहीं आपके और हमारे जीवन मे ऐसा ही तो नहीं हो रहा है कि निमित्त हमारे पास हैं और हम निमित्तो का सदुपयोग नहीं कर रहे हैं। कहीं-कहीं परिवारो मे यह भी देखा जाता है कि धर्म-साधन करने वाले सम्बन्धी भी गृहस्वामी को अच्छे नही लगते। कई बहिने इसलिए ही अपना

मन मसोस कर रह जाती है कि धर्माचरण-सम्बन्धी कोई बात अभी की नहीं कि पति महोदय की ओर से व्यंग्य-बाणों की वर्षा प्रारम्भ हो जाएगी। लेकिन बन्धुओ! इसमें परेशानी की क्या बात है? कोई आपके कार्य की हानि न करते हुए कुछ समय निकालकर धर्माचरण करे तो आपको बुरा क्यों लगता है? माना कि परिवार की सेवा आवश्यक है, लेकिन परिवार-सेवा ही सब कुछ है—ऐसा मैं नहीं मानती। यदि कोई मुझे समझाकर अपना पक्ष सिद्ध कर दे, तो फिर मैं भी यही चर्चा करूँगी कि परिवार-सेवा ही सब कुछ है। परिवार परिवार की जगह है, मकान मकान की जगह है, इन्द्रियाँ इन्द्रिया की जगह है और आत्मा आत्मा की जगह है।

मकान में मालिक की भ्रान्ति, इन्द्रियों में आत्मा की भ्रान्ति, बहुत बड़ा अज्ञान है। बन्धुओ! यह रक्त-परम्परा हमने हर योनि में बदली। जीव जहाँ गया, वहाँ उसे ही उसने अपना माना, जन्म हमें जोड़ता है और मृत्यु हमें तोड़ती है। वर्तमान रक्त-परम्परा से भी हम टूटने वाले हैं फिर हम इसे परमेश्वर, सर्वेसर्वा कैसे मानें? जो हर भव में बदल रहा है, जो बदलने वाला है उसे ही हम सर्वस्व मान अपना जीवन समर्पित कर रहे हैं, बलिहारी है हमारी बुद्धि की!! हमें उस चिरंतन को खोजना है, उसे शाश्वत तत्त्व की खोज करनी है जो हमारा है, जो हम हैं, जो मैं हूँ, जो आत्मा है।

अनन्तकाल बीत गये पर जब तक आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, अपने स्वरूप की पहचान नहीं होगी तब तक भवभ्रमण चलता रहेगा—कभी सुखात्मक रूप में, तो कभी दुःखात्मक रूप में। कभी पुण्य का परिचय ज्यादा होगा तो कभी पाप का।

व्यक्ति पुण्यबन्धन में धर्म समझ लेता है और उसी से चिपक जाता है। पुण्य पुण्य है, पाप की अपेक्षा वह अच्छा है, देव-गुरु-धर्म की आराधना का निमित्त देता है, आज जो मानव-पर्याय, अनुकूल प्रसंग मिले हैं, वे पुण्य के ही परिणाम हैं, लेकिन पुण्य भी साधन ही है साध्य नहीं। यदि हम पुण्य को ही सब कुछ मान लेंगे तो हमारी

मति उसी में भ्रमित हो जाएगी। जब तक देखने वाले को नहीं देखेंगे, जानने वाले को नही जानेगे तब तक मन राग-रंग मे ही उलझा रहेगा। वियोग में भी संयोग की कल्पना कर कर्मबन्धन करते रहेंगे। ज्ञानाभाव दशा मे यदि साधनों का अभाव है और अप्राप्त साधनों के प्रति राग है, आसक्ति है तो वह भी कर्म-बन्ध का कारण है जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—भोगों का उपभोग न करने पर भी व्यक्ति त्यागी, संयमी नही कहलाता और कर्मबन्धन करता है—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थियो सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥

साधन अप्राप्त है पर जीव ने मन मे उनका त्याग नहीं किया है, अत. निरन्तर बन्ध हो रहा है और सयोग मे भी यदि वियोग की कल्पना है, प्राप्त साधनो के प्रति मन में राग-भाव नही है तो व्यक्ति साधनो के बीच रहकर भी नि स्पृही है। जो संयोग मे वियोग की कल्पना करेगा उसकी आसक्ति टूटेगी और यदि वियोग में भी संयोग की कल्पना है तो वह आसक्ति से जुडा है।

व्यक्ति वर्तमान मे ही नहीं अपितु अतीत और अनागत से जुड़कर भी कर्मबन्धन करता है। अतीत की लाशों को, समय, रूप, रंग, मीत, प्रीत को याद करता है और कर्मबन्धन करता है। एक वर्ष पूर्व हमने कोई ऐसी वस्तु खायी जो हमे बहुत अच्छी लगी। वही वस्तु आज प्रीतिभोज में हमारे सम्मुख आयी और वह मुँह मे रखी तो मुँह से निकल गया कि दहीवडा तो मैंने एक वर्ष पूर्व खाया, उसका स्वाद ही अनूठा था। वह दहीवड़ा जो एक वर्ष पूर्व खाया गया था वर्तमान में स्मृति-पटल पर आकर हमारी रसना की आसक्ति को प्रकट कर व्यर्थ ही कर्मबन्धन करा रहा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति व्यर्थ मे कल्पना से चिपक कर कर्मबन्धन करता है जबकि यह अमूल्य मानव-जीवन, जिसकी दुर्लभता तथा विशेषता की चर्चा हमने की, पाना बड़ा कठिन है। आत्मा सभी में है पर सत् स्वरूप को जानने की शक्ति इस मानव-चोले मे ही है। हम

परमात्मस्वरूप की प्राप्ति इस दुर्लभ मनुष्य-पर्याय के माध्यम से ही कर सकते हैं।

मनुष्य-जन्म का मूल्य समझते हुए प्राप्त अमूल्य क्षणों का सदुपयोग आत्महित में करें, बहिरात्मा से अन्तरात्मा तथा अन्तरात्मा से परमात्मा बनने का प्रयास करें। सभी अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर अविनाशी सुख को प्रकट करें। □

समत्व : जैसा मैं, वैसा यह, वैसे सब

☐ जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरो के लिए भी चाहो। जो जो तुम अपने लिए नहीं चाहते, वह दूसरों के लिए भी न चाहो ☐ आत्मीयता का विस्तार जितना अधिक होगा, जगत् की मंगलकामना की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक होगी ☐ हमने मानव-आकृति तो पायी परन्तु पता लगाइये मनुष्य प्रकृति भी मिली या नहीं ? मनुष्य-जीवन मे उत्तम जीवन कोई और नहीं है. पुनः यह जीवन मिले, या न मिले। जो कमाई करनी है कर लो; इस शरीर मे जितना सत्कर्म कर सकते हो, कर लो; इस वाणी से जितने मंगलमय वचनो की वर्षा कर सकते हो, कर लो ; इस मन से जितने शुभ संकल्प कर सकते हो, कर लो ☐ अपनी शक्ति सृजन में लगानी चाहिये, विध्वंस में नहीं; स्व-शक्ति का मूल्यांकन कर कर्त्तव्यनिष्ठ बनना चाहिये।

हम प्रतिदिन सत्संग मे आते है। क्यो ? हमारा उद्देश्य है 'सत्' का रग, उसकी रुचि हमे कैसे लगे ? सत् का साक्षात्कार कैसे हो ? चिरन्तन सत्य को पाने के लिए, सम्भव है, इस जीव ने पूर्व मे भी प्रयत्न किया होगा, लेकिन वह नाममात्र का ही रहा होगा, क्योकि उसका परिणाम हम आज अपने जीवन मे अनुभव नही कर पा रहे हैं। यदि प्रयत्न सार्थक होता तो हमारा जीवन, हमारा आचरण कुछ और होता, वह क्षुद्र न होकर विशाल, व्यापक और उदार होता। जब एक व्यक्ति अपने जीवन के सम्यक् विकास मे लग जाता है, तब उसके विकास मे हजारो का विकास अन्तर्निहित होता है। वह बहुत लोगो के लिए प्रेरक बन जाता

है, प्रेरणा बन जाता है, यह बोले, या नहीं जीवन उसका स्वयं बोलने लगता है।

जीवन-निर्माण की दशा मे व्यक्ति किसी को हानि नही पहुँचाता। उसके विचार दूसरो के लिए किसी-न-किसी रूप मे लाभकारी होते हैं, लेकिन जीवन-निर्वाह की दशा मे वह दूसरो का शोषण भी कर सकता है, अत जिसने आत्महित के लिए पुरुषार्थ प्रारम्भ कर दिया तो समझिये जनहित भी उसके द्वारा स्वत शुरू हो जाएगा। 'आत्महित' का विस्तार ही 'जगहित' होगा। जिसने आत्मा का मूलरूप जान लिया है, वह जान लेता है कि आत्मा शुद्ध है, शुद्ध है, मुक्त है, निरजन है लेकिन वर्तमान मे जो उसकी परिणति है, वह कर्मों के कारण है। अज्ञान और मोह मे बाधे गये कर्मों ने आत्मा को सुषुप्त अवस्था मे ला पटका है, ससार मे परिभ्रमण करवाया है। ससारी आत्मा का लक्ष्य, उसके सारे प्रयत्न, काया, कुटुम्ब, कचन, कामिनी एव कीर्ति के लिए है। उसका कार्यक्षेत्र कितना भी विस्तृत क्या न हो, लेकिन लक्ष्य इन्ही की प्राप्ति का होगा। उसके लिए वन-धरती, सत्ता-सुन्दरी मे आकर्षण होगा। इन चारो शब्दो मे सम्पूर्ण जगत् का आकर्षण समाहित हो जाता है। अपने स्वार्थ की पूर्ति-हेतु वह दूसरे के स्वार्थ, को, दूसरे की आवश्यकता को, दूसरे की इच्छाओ को ठुकराता है, उनका हनन करता है। वह अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करता है, लेकिन किसी का दिल दुखाकर, किसी की आखो मे आसू निकलवा कर। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका उद्देश्य जगत् का, जगत् के परपदार्थो को प्राप्त करना मात्र है, उसकी शक्ति सृजनात्मक कम, विध्वसात्मक ज्यादा होगी। मानव-जीवन का उद्देश्य शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होना चाहिये, अधोगमन नही।

ज्ञानियो ने भौतिक सुख को सुखाभास कहा है। दूसरो को दुःख देकर प्राप्त किया जाने वाला सुख, सुख नही। हमे भी सुख मिले, हमारे माध्यम से दूसरो को भी वह मिले, यह भावना होनी चाहिये।

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिणसासण।।

(जो तुम अपने लिए चाहते हो, वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिए नही चाहते हो, वह दूसरों के लिए भी न चाहो. यही जिनशासन है।)

जिनशासन हो अथवा अन्य कोई धर्म, कोई मज़हब, कोई पन्थ—यह नही कहता कि तुम दूसरों को दुःखी करके अपने को सुखी बनाओ, दूसरों की झोपड़ी हटाकर अपना महल बनाओ, दूसरों की रोटी छीनकर अपनी तिजोरी भरो।

बन्धुओ! जब आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा, सभी प्राणियों के साथ मित्रता के भाव उत्पन्न होने लगेंगे तब चराचर जगत् के प्राणियों के साथ वह अपने-आप को जोड़ लेगा। उनका सुख उसका सुख होगा, उनका दुःख उसका दुःख होगा। वह महापुरुषों के पद-चिन्हों पर चल पड़ेगा। महापुरुष किसी भी काल में हो, किसी भी देश में हो, किसी भी जाति मे हों—उनका काल, देश, जाति स्तर पर तो अन्तर हो सकता है लेकिन भावात्मक स्तर पर नही। सभी की भावात्मक स्थिति एक होती है. जो महापुरुष होगा उनमें उदारता, उदात्तता, क्षमाशीलता आदि गुण सहज होंगे।

इस भूमि (जोधपुर) का सम्बन्ध वीर तेजाजी के साथ है, न जाने कितने संत हो गये, कोई किसी के साथ जुड़ा, कोई किसी के साथ। महापुरुषों की धरती में जन्म लेने वाले, उनकी महिमा गाने वाले, उनकी पूजा-उपासना करने वाले हम, जरा विचार करें कि क्या अन्तरंग मे भी हम उनके साथ जुड़ पाये? क्या उनकी वाणी ने हमारे जीवन में कुछ परिवर्तन किया? जब उनकी वाणी हमारे हृदयतल को स्पर्श करेगी तब हमारी दृष्टि बदलेगी, जब दृष्टि बदलेगी तब पुरुषार्थ बदलेगा, जब पुरुषार्थ बदलेगा तभी उपलब्धि भी बदलेगी। स्वकाया के संरक्षण के लिए किसी अन्य काया का नाश करना हमारा उद्देश्य नही होगा। स्वयं को सम्पत्ति के साथ जोड़ने के लिए दूसरो को विपत्ति मे नही डालेगे, हमारा व्यवहार बदलेगा, कर्म बदलेगा फिर

जीवन बदलेगा। हृदय मे 'मैं-मेरे' का घर विस्तृत हो जाएगा-मित्ती मे सव्वभूएसु (समस्त प्राणियो मे मेरी मैत्री हो)-ऐसी भावना जब उत्पन्न होगी वहीं से आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा तो हम दूसरो को दुःख नही दे पायेंगे। साधारणतः जिनसे हमारी आत्मीयता होती है उनके सुख-दुःख मे हमारा मन भी सुखी-दुःखी होता है। आत्मीयता का विस्तार जितना अधिक होगा, हम मे, जगत् की मंगलकामना की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक होगी। जिस प्रकार एक मा अपने बच्चे का रोना नही देख सकती क्योंकि उसमे वात्सल्य, ममत्व, स्नेहभाव है, उसी प्रकार महापुरुषो की वाणी के साथ जुड़ा वाला सकल संसार से स्नेह करने लगेगा। दूसरो के कष्टनिवारण मे वह अपनी शक्ति लगायेगा।

हम अपने जीवन को देखें, सोचे-अपने जीवन मे हम कितना को सुखी कर पाये? कितना के हित मे शक्ति लुटा पाये? आज तो सब कुछ विपरीत ही दिखाई देता है-सर्वत्र संघर्ष के, सर्वनाश के समाचार मिलते है-यह क्या है? आज हम अपनी शक्ति का उपयोग किसी को उठाने मे नही, उसे गिराने मे करते है। कोई लड़खड़ा रहा हो तो उसे सहारा देकर उठाते नहीं, अपितु एक ठोकर और लगा देते है-भले ही वह व्यापारिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो अथवा धार्मिक क्षेत्र हो, क्या यही हमारी धार्मिकता है?

बन्धुओ! हमने मानव-आकृति तो पायी परन्तु पता लगाइये मनुष्यप्रकृति भी मिली या नही? पुनः यह मानवजीवन न जाने कब प्राप्त होगा। यह अमूल्य अवसर हमे प्राप्त हुआ है, सुनहरा मौका है-इस प्रकार ज्ञानी बराबर उद्बोधन देकर हमे सावचेत करते है, सावधान करते है। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को कभी नहीं कहेगा कि बन्धु! मौका अच्छा है लाभ उठा ले, इसके बाद तो भाव गिरने वाले है, लेकिन हा, अगर बहुत अधिक अपनापन होगा तो सूचना अवश्य दे देगा। सामान्यतः कोई व्यापारी यह कभी नहीं चाहेगा कि कोई मुझसे धन कमाने मे बाजी मार जाए या कोई मुझसे ज्यादा यश कमा ले, अथवा कोई किसी भी क्षेत्र मे मुझसे आगे बढ़ जाए। लेकिन

महापुरुषों के लिए तो सम्पूर्ण जगत् अपना है—**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।** वे हमें जागरूक बनाने के लिए बार-बार उद्बोधन देते हैं—यह मौका मत छोड़ो, इससे उत्तम जीवन कोई और नहीं है पुनः यह जीवन मिले, या न मिले, जो कमाई करनी है कर लो, इस मानव-मस्तिष्क का लाभ उठा लो, इस शरीर मे जितना सत्कर्म कर सकते हो कर लो, इस वाणी मे जितने मंगलमय वचनो की वर्षा कर सकते हो कर लो, इस मन से जितने शुभ संकल्प कर सकते हो कर लो।

दो व्यक्ति जा रहे थे। यात्रा लम्बी थी। कभी बैठते, कभी फिर चल पड़ते। काफी दूर आ जाने के पश्चात् एक स्थान पर जब वे बैठे थे तब एक व्यक्ति आया और कहने लगा—उठा लो! उठा लो!! वे विस्मित होकर पूछने लगे—क्या उठा लो? और क्यो उठा लो? उस व्यक्ति ने कहा—अपने पाँवो के नीचे की मिट्टी उठा लो। वे हँस पड़े, उपहास करने लगे अरे! यह मिट्टी ही हम उठाने लगते तो हमारे पास न जाने कितना व्यर्थ भार हो जाता। इतनी देर से मिट्टी पर ही तो चल रहे हैं। आगन्तुक ने कहा—मित्रो! यह मिट्टी सामान्य नही है, इसमें स्वर्ण-कण मिले है। अब तो यात्री भी चौक कर नीचे देखने लगे और जल्दी-जल्दी मिट्टी उठाने लगे।

बन्धुओ! हम भी चल रहे हैं—अनन्त काल की यात्रा मे—हमें शरीर कहाँ नही मिला?—कभी चिड़िया, कभी चीटी, कभी श्वान, कभी शूकर, कभी गजराज तो कभी गर्दभराज। प्रत्येक भव में काम-वासना भी रही, संग्रहवृत्ति भी रही, क्रोध-संघर्ष आदि वृत्तियाँ भी रहीं। हम कई बार देखते है, पशु-पक्षी जगत् में भी, कि जब कोई चीज उनके बीच आती है तो वे उसके लिए संघर्ष करने लगते है। स्वयं की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, संग्रह की भावना, जिजीविषा की भावना हर गति, हर योनि में मिली। एक चीटी को देखिये, वह भी शक्कर का एक-एक कण इकट्ठा करती रहती है। यह संग्रहवृत्ति आदि भावनाएँ तिर्यंच आदि सभी गतियो मे अनेक बार मिली हैं और आज इस उत्तम मानव-भव मे भी वही—काया, कंचन, कामिनी, कुटुम्ब के लिए मस्तिष्क का

उपयोग कर रहे हैं। जरा सोचिये, विचारिये!

जिस प्रकार उन यात्रियों ने कहा—मिट्टी तो हमें सर्वत्र मिली—क्यों उठा लें—उसी प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं—यह परिवार, ये भावनाएँ, ये मनोवृत्तियाँ तो हर पर्याय में मिलीं और हर भव में, हर शरीर में इन्हीं का पोषण किया लेकिन इस मनुष्य-देह से मेरा तो स्वर्ण निकालना है, सत्संग का स्वर्ण निकालना है, शुद्ध भावनाओं का स्वर्ण निकालना है।

पूज्या गुरुवर्याश्री विचक्षणश्री जी म. सा. कहा करती थे—तन भी मिट्टी, धन भी मिट्टी—लेकिन इन दोनों के योग से मनुष्य चाहे तो स्वर्ण प्राप्त कर सकता है। तन से सेवा करके, किसी का हित करके, सत्कर्म करके तथा धन से परोपकार करके, दुखियों को सहायता पहुँचा करके। किसी के तन-धन की शक्ति किसी अन्य का शोषण करने में लगती है तो किसी की किसी अन्य का पोषण करने में। नीतिकार कहते हैं—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

दुष्टों की विद्या विवाद के लिए, धन मद के लिए और शक्ति परपीडन के लिए होती है जबकि साधुजन का आचरण इससे विपरीत होता है अर्थात् उनकी विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों के रक्षण के लिए होती है।

राजा भोज को सम्पत्ति मिली, साथ ही-साथ सन्मति भी। बन्धुओ! सन्मति के बिना सम्पत्ति अनर्थ करती है, नरक निगोद में द्वार खोल देती है। जिसके पास सत्ता हो सम्पत्ति हो, सन्मति न हो तो वह हर अनर्थकारी कार्य कर सकता है—

यौवनं धनसम्पत्तिप्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

राजा भोज मनसा, वाचा, कर्मणा शुभ कार्यों में लगे रहते थे। विद्यापारखी, विद्वान्, दयालु एवं उदार थे। जो भी विद्वान् कवि आता उसे वे यथायोग्य स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कर उसका अभिनन्दन करते थे। राजा की अतिशय उदारता देखकर उनका मंत्री चिन्ता करने लगा—यदि राजा इसी प्रकार धन लुटाते रहे तो एक दिन कोष खाली हो जाएगा। जो धन प्रजा की सुरक्षा के लिए है वह तो पानी की तरह बह रहा है। राजा के सम्मुख अपनी चिन्ता निवेदन करने का साहस तो था नहीं, फिर भी अपना मन्तव्य तो प्रकट करना ही था, मंत्री ने राजसिंहासन के सामने की दीवार पर एक सूक्ति लिख दी—**आपदर्थं धनं रक्षेत्**—आपत्तिकाल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिये। दूसरे दिन राजा सभा में आये, सिंहासन पर बैठते ही सामने दृष्टि गई। वे स्वयं विद्वान् कवि थे, न जाने कितनी ही कलाओं के ज्ञाता थे, विद्यावारिधि थे। पढ़ते ही पंक्ति का अर्थ समझ गये, साथ ही संकेत देने वाला कौन है यह भी जान गये। उन्होंने उसी के आगे दूसरा चरण लिख दिया—**श्रीमतां कुत आपदः**——श्रीमानों को आपत्ति है ही कहाँ? जो पुण्यशाली होते है आपत्तियाँ तो उनका रास्ता स्वयं छोड़ देती हैं। मन्त्री ने देखा तो फिर नीचे एक वाक्य लिख दिया—**कदाचित् कुपितो दैवः** – कदाचित् भाग्य बदल जाए। परिवर्तन तो जगत् का स्वभाव है—जैसे गेंद कभी ऊपर जाती है, कभी नीचे आती है वैसे ही कभी सुख का झोंका आता है, कभी दुःख का झोका आता है; इसीलिए ज्ञानी-जन कहते हैं—कभी किसी शक्ति को प्राप्त कर इठला मत जाना। यह तो पुण्ययोग है, पूर्वसुकृत का मीठा फल है, इसे पाकर कहीं अहंकार मत कर लेना। यदि शक्ति मिली है तो इसका सदुपयोग कर लो। न जाने कब भाग्य बदल जाए, परिस्थितियाँ परिवर्तित हो जाएँ। आज किसी को दो रोटी खिलाने की स्थिति है तो खिलाये, यह न सोचें कि कभी पैसा अच्छा हो जाएगा तो दस को खिलाऊँगा। कहीं भाग्य इतना न बदल जाए कि एक को भी खिलाने की स्थिति न रहे।

दूसरे दिन राजा ने फिर देखा तो विचार वर उसी के आगे लिख दिया—सचितोऽपि विनश्यति—यदि कहीं श्रीमन्ता पर भी आपत्ति आ जाएगी तो जो सचित ह वह भी नष्ट हो जाएगा। अच्छे-से-अच्छे समृद्ध व्यक्तियों का भी जब भाग्य बदलता है तब वे मिट्टी मे मिल जाते ह, करोडो का धन न जाने कहाँ-से-कहाँ चला जाता ह। चारो तरफ मे आपत्तियो का ऐसा पहाड टूटता ह कि लाखो का रोटी खिलाने वाला स्वय भी रोटी के लिए तरस जाता है, राजा ग्— बन जाता है। जब सचित भी नष्ट हो जाने वाला है तब क्या न फिर जितना है उसी का सदुपयोग कर लें, उस शक्ति का पूरा लाभ उठा लें। चौथी पक्ति पढने के बाद मन्त्रीवर शान्त हो गये, निरुत्तर हो गये।

बन्धुओ! हमे भी अपनी शक्ति सजन मे लगानी चाहिये, विध्वस मे नहीं। स्वशक्ति का मूल्याकन कर सनव्यनिष्ठ बनाना चाहिये तभी महापुरुषो के नाम के साथ जुडना सार्थक होगा। ☐

गत : आगत : अनागत

☐ पहले पापभाव का अन्त होगा, फिर पाप-प्रवृत्ति का। पहले पुण्यभाव का अन्त होगा फिर पुण्य-योग का पहले हम संसार से भावों ने टूटेंगे तब कहीं अन्त होगा हमारे स्थूल जगत् का। ☐ जीव कर्मबन्ध में तो स्वतन्त्र रहता है, परन्तु उदय में परवश हो जाता है। जीवन में भले ही पुण्य का उदय हो अथवा पाप का—जिस जीव ने जो बाँधा है—वह उसे भोगना ही होता है ☐ 'समयं गोयम! मा पमायए!'—हे गौतम! क्षण-भर भी प्रमाद मत करो ☐ स्मृति भूत है और आशा—तृष्णा (भविष्य) नागिन, हमें दोनों से बचकर वर्तमान में जीना है ☐ आत्मा में जो भाव होगा, वही तो बाहर प्रकट होगा। भीतर की अच्छाई, या गन्दगी ही तो बाहर आयेगी।

अभी हमने एक पद सुना—आओ मेरे चेतन झूलें आतम-भवन में; किन्तु आतमभवन मे झूलने के स्थान पर यह जीवात्मा अनन्तकाल से झूल रही है—भूत-भविष्यत् के झूले मे, तेरे-मेरे के झूले मे, धन-सम्पत्ति, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धवो के झूले में, सुख-दु:ख के झूले मे, पुण्य-पाप के झूले मे, स्वर्ग-नरक के झूले मे, अपने अतिरिक्त न जाने कितने पर-झूलों में।

पाँचों इन्द्रियो के नाना विषयो में झूलते इसे अनन्तकाल बीत गया; लेकिन अद्यावधि झूलने का अन्त नही आया। झूलने के भावों का अन्त नही आया, अत: झूलना सतत् चलता रहा। पहले पाप-भाव का अन्त

होगा फिर पाप-प्रवृत्ति का। पहले पुण्य-भाव का अन्त होगा फिर पुण्य-योग का। पहले हम संसार से, भावों से छूटेंगे तब कहीं अन्त होगा हमारे स्थूल जगत् का। जब तक हम भावों से नहीं छूटेंगे, तब तक उनसे होने वाले परिणामों से कैसे छूटेंगे? किसी भी कार्य के चाहने, या न चाहने-मात्र से क्या होगा, क्रमश: पहले उसके कारण का जुटाना, या नष्ट करना होगा। इन्द्रिय-गम्य स्थूल जगत् या व्यवहार तो अत्यन्त आश्चर्य का विषय है, क्योंकि व्यक्ति जिसे नकारता है वही उसके निकट आता है और व्यक्ति जिसे चाहता है वही उससे दूर जाता है।

जीव कर्मों का बंध करने में तो स्वतन्त्र होता है, लेकिन उनका उदय आने पर भोगने में वह पराधीन हो जाता है। भले ही वह कर्म प्रतिकूल हो, या अनुकूल, जिसका उदय वह चाहता हो या न चाहता हो। कहा है—

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होंति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो तत्तो॥

—समणसुत्तं/कर्मसूत्र ६

(जीव कर्मबंध में तो स्वतन्त्र रहता है, परन्तु उदय में परवश होता है जैसे कोई पुरुष स्वेच्छा से वृक्ष पर चढ़ तो जाता है, किन्तु प्रमादवश नीचे गिरते समय परवश हो जाता है।

जीवन में भले पुण्य का उदय हो, अथवा पाप का—जिसने जो बाँधा है, उसे वह भोगना ही होता है।

वर्तमान में हमारी आत्मा की जो अवस्था है, जो व्यवस्था है, जो विविधता है—यह आज की नहीं, अनादि काल से है। दो पाटों—पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, अपना-पराया आदि के बीच समय गुजरता चला जा रहा है। कभी एक पाट को देखते हैं, तो कभी दूसरे को। या तो हमारी दृष्टि भूत पर जा टिकती है, या फिर भविष्यत् पर, वर्तमान सदैव अछूता ही रहता है, इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—साधना ही है जो सुख वर्तमान का पकड़ो, न भूत के सुखों को याद करो, न भविष्यत् की

आशा करो। जो वर्तमान को जान रहा है वह निश्चय ही समय को पहचान रहा है।

'आचाराग सूत्र' का पाठ है कि पण्डित वही है जो वर्तमान को जानता है। जो वर्तमान समय की सूक्ष्म गति का सही उपयोग करता है, सूक्ष्मतम समय से आत्मा को जोड़ता है, वही जीवन का लाभ उठा रहा है। भगवान् महावीर गौतम स्वामी को संबोधित करते हुए कह रहे हैं—**समयं गोयम! मा पमायए** (हे गौतम! क्षण भर भी प्रमाद मत करो)। अनन्तकाल तो हमारा प्रमाद मे बीत गया—कहीं यह काल भी उस काल मे जाकर न मिल जाए।

लेकिन बन्धुओ! हमारी क्या दशा है? हमारी नजर या तो बीते हुए काल पर है, या आने वाले पर। हमारी स्मृतियाँ अतीत से सम्बन्धित है, योजनाएँ भविष्यत् से। या तो हम अतीत के 'भूत' से जुड़ते है या फिर भविष्यत् की आशा-तृष्णा से। जो व्यतीत है, वह अतीत है, जो अतीत है वह भूत है। जो स्मृति हमे आ रही है वह अतीत की है। वह व्यक्ति जिसे हम याद करते है, वह हमारी आँखो के सामने नही, जिस पदार्थ की हमे स्मृति आ रही है, वह भी नही। वह व्यक्ति नही, वह सम्बन्ध नहीं, वह पदार्थ नही, वह समय नहीं। हम उस अतीत की स्मृति में वर्तमान को व्यतीत कर रहे है। वर्तमान अतीत तो बन रहा है—हर क्षण बन रहा है; लेकिन किसी का सार्थक होकर किसी का निरर्थक होकर। हम उसका व्यर्थ व्यय कर रहे है; भूत-भविष्यत् के चिन्तन मे।

स्मृति भूत है और आशा-तृष्णा (भविष्य) नागिन है—हमे दोनो से बचना है। यह भी कैसी विचित्र स्थिति है कि व्यक्ति अतीत को याद करके तो रो रहा है, हँस रहा है; लेकिन वर्तमान का ध्यान ही नही कर रहा; इसलिए समय को पकड़ नही पा रहा। समय को पकड़ने का तात्पर्य यह नही है कि उसे कही गठरी मे बाँध लेंगे, या मुट्ठी मे पकड़ लेगे। समय को पकड़ने का अर्थ है, उसका सदुपयोग। जब सदुपयोग होगा तो वह समय सार्थक हो जाएगा। नही तो—काल तो अविरल गति से बहता चला जा रहा है, बहता चला जाएगा, किन्तु यदि कोई उस बहते समय को भी

तीव्र गति से दौडते काल को भी पकड लाभ उठा लेना है—अरिहंत-स्तुति के द्वारा, प्रभु-स्मरण के द्वारा, वीतराग भगवंत को भावपूर्ण नमन द्वारा, साधकों के तपस्वी जीवन की अनुमोदना द्वारा, और अपने जीवन मे गुणो के विकास द्वारा—तो उसका समय सार्थक व्यतीत हुआ कहा जाता है। जिसने अपना समय आत्मविकास मे लगा दिया—उसी ने वास्तव मे उसे पकडा है।

बन्धुओ! यहाँ कितने टेपरेकॉडर रखे हैं। कितने ही भाई-बहन अपनी गोद मे टेपरेकॉर्डर लिये बैठे हैं। जरा—सोचो, कैसेट मे जो फीता है, वह क्या कर रहा है? विद्युत् के वेग से हमारे शब्दो को बाँध रहा है और बटन दबाने पर शब्दो को वापिस फेंक भी देगा। हम देख रहे हैं—फीता दो भागो मे बँटा हुआ है, या तो वह फीता जो भर चुका है, या वह फीता जो अभी खाली है—जिस फीते मे शब्द अंकित होते हैं—वह कितना कम होता जाता है और कितनी तेजी से भरते हुए फीते मे मिलता जा रहा है। बन्धुओ! हमारा जीवन भी कैसेट के फीते के समान है। कुछ भर हो चुका है—वह भर चुका है अतीत की स्मृतियो से, वह समय गुजर चुका है—लेकिन उसकी यादें मस्तिष्क मे सुरक्षित हैं और कुछ फीता खाली है—वह भविष्यत् है। उसमे से निकलता जा रहा है वर्तमान बनकर और बनता जा रहा है, भूत। इतनी सूक्ष्मता और तीव्रता मे यह कार्य हो रहा है कि आप, हम जान भी नही पा रहे है। कोई कह रहा है—मेरे २० वर्ष गुजर गये कोई कह रहा है—मेरे ३० वर्ष गुजर गये हैं। वर्तमान गुजर कब कब अतीत मे मिल रहा है, उस पर हमारी दृष्टि नही—कुछ वर्ष गुजर गये—कुछ गुजर जाएँगे और एक क्षण ऐसा आयेगा जब हमारा श्वासो का पिटारा खाली हो जाएगा। घडी की सुई चल रही है—स्थिर-सी प्रतीत होती है—लेकिन पलक झपकते वह दूसरे सैकण्ड पर पहुँच जाती है। वह तो आगे बढती जा रही है—बिना देखे कि कोई समयानुसार अपना कार्य कर पा रहा है या नही। दीपक जल रहा है, लेकिन जैसे ही तेल समाप्त हुआ कि वह बुझा—फिर वह नही देखता—किसका कितना काम बाकी रह गया। बन्धुओ! इसी प्रकार हमारे श्वास आते जा रहे हैं, जाते जा रहे हैं, वे नही

देख रहे कि हम इनका उपयोग कर रहे हैं, या नहीं। जब श्वासों का धागा टूट जाएगा तब आत्मा का साथ छूट जाएगा—फिर मौत यह नही देखेगी कि आपने यह उत्तम, दुर्लभ मनुष्य पर्याय पाकर आत्महित के लिए कुछ किया, या नही ?

बन्धुओ ! काल की चक्की सतत् चल रही है। उस चक्की में क्षण पिसते चले जा रहे है। उन क्षणों को हम बचा सकते हैं—कैसे ? उनके सदुपयोग द्वारा। कौन बचाता है ? जो ज्ञानरूपी कीलिका से जुड़ा रहता है। कबीर ने कहा है—

> चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।
> दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय ।।

चक्की चलती है तो दाने पिस जाते हैं; लेकिन कभी-कभी बहनें जब पाट उठाती हैं तो पाती है कि कुछ दाने बच गये हैं। कौन बच गये—जो कीलिका के पास चिपके रह गये—पिसने के क्षणों में भी बचे रह गये—नष्ट होने के क्षणों में भी अखण्ड रह गये। इसी प्रकार जो जीव ज्ञानरूपी कीलिका से, सम्यग् दर्शन रूपी कीलिका से, सम्यक्चारित्र-रूपी कीलिका से चिपक जाते हैं, जुड़ जाते है, काल तो उनका भी समाप्त होता है लेकिन अब उसे व्यर्थ नही कहा जा सकता बल्कि वह तो अत्यन्त सार्थक हो उठा है। ऐसे जीवों को समय गुजरने के बाद पश्चात्ताप नही होता। वे रोते नही कि हाय ! हमारा इतना समय यों ही चला गया।

आज हमें भविष्य की चिन्ता है, अतीत के साथ उसकी तुलना चल रही है; किन्तु वर्तमान पुरुपार्थ खोता जा रहा है, जबकि अतीत और अनागत दोनों ही वर्तमान की उपज हैं। जो अनागत की चिन्ता कर रहा है वह वर्तमान की उपेक्षा कर रहा है, वह बस आशावादी, या आकांक्षावादी मात्र है। अतीत बासी खाना है, वर्तमान मे जीना ही वास्तविक जीवन है।

आगत (वर्तमान) की अनुभूति होती है, अतीत की स्मृति हो सकती है और भविष्य की आशा। स्मृति और आशा को छोड़ने पर ही सच्ची अनुभूति हो सकती है। यदि हमारा वर्तमान जीवन श्रेष्ठ नही है, तो भविष्य

भला कैसे श्रेष्ठ हो सकेगा ? हम उज्ज्वल भविष्य की कामना करते है परन्तु वर्तमान मे बुरी आदतो को छोडत नहीं तो भविष्य उज्ज्वल कैसे बनेगा ?

इसी तरह भले ही हमारा अतीत दोषपूर्ण, पापमय रहा हो परन्तु वर्तमान मे यदि हमारे कदम सही दिशा मे उठ रहे है, अतीत के अपराध-निवारण के लिए वर्तमान मे सकल्पपूर्वक समीचीन क्रिया हो रही है तो भविष्य अवश्य ही उज्ज्वल होगा। जो सुखद भविष्य की कामना करता है उसे आज के ही सकल्प पर दृढ निश्चय कर लेना चाहिए। आत्मा मे जो भाव होगा वही तो बाहर प्रकट होगा। भीतरी अच्छाई या गदगी ही तो बाहर आयेगी, अत आवश्यकता है भावो को शुद्ध बनाने की, पवित्र बनाने की, वर्तमान मे जीने की, अतीत और अनागत की चिंता छोडने की। इन्ही भावो के साथ आप भी मेरे साथ यह सकल्प लीजिए कि हम अपने वर्तमान को सुधारेगे, बनायेगे, व्यर्थ नहीं करेगे, उसे सार्थक करेंगे। □

आत्मानुशासन

□ राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई है व्यक्ति। उसका चरित्र-निर्माण राष्ट्र का चरित्र-निर्माण है; क्योंकि जब व्यक्ति के चरित्र का निर्माण होगा तब परिवार के चरित्र का निर्माण होगा; जब परिवार का, तब मोहल्ले का, फिर शहर और प्रान्त का और तब जा कर पूरे राष्ट्र का □ दूसरों की बुराई देखना सरल है, दूसरों को मार्गदर्शन देना भी आसान है; परन्तु अपनी ओर देखना, आत्मविश्लेषण करना कठिन अवश्य है, असम्भव नहीं है □ स्वयं-के-विकास का उत्तरदायित्व स्वयं-पर है। हम अनुशासन करें, लेकिन स्वयं अनुशासित रहकर □ हमारा आचरण ही दूसरों को कुछ सिखा सकता है। आचरण की पवित्रता के अभाव में हम नारे तो लगा सकते हैं, भाषण तो दे सकते हैं, चिल्ला तो सकते हैं, लेकिन वह सारा चीखना-चिल्लाना अन्ततः व्यर्थ होगा □ सच्चा परिवर्तन तो तभी होगा, जब हम नहीं, हमारा जीवन बोलेगा।

आज प्रत्येक सगठन, सस्था या सेवा-केन्द्र का—चाहे वह धार्मिक हो, राजनीतिक हो, सामाजिक हो या आर्थिक हो—सुपरिचित उद्देश्य है—समाज कैसे बदले? राष्ट्र का चरित्र निर्माण कैसे हो? क्या ईंट-चूने, पत्थर के बने भवनों से सुसज्जित नगरों का समूह राष्ट्र है? नहीं! राष्ट्र की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति है। उसका विकास राष्ट्र का विकास है, उसका चरित्र-निर्माण राष्ट्र का चरित्र-निर्माण है; क्योंकि

स्वयं-अनुशासित तो कोई विरले माई के लाल ही होते हैं। अपने-आप पर विजय प्राप्त करना कठिन है। आत्मविजेता ही इस लोक व परलोक में सुखी होता है।

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

—समणसुत्त / संयमसूत्र ६

दूसरो से तो सभी अनुशासित हैं। नौकर सेठ से अनुशासित है, शिष्य गुरु से अनुशासित है, पत्नी पति से अनुशासित है। हर क्षेत्र में अनुशासित एवं अनुशासक होते हैं—चाहे वह फिर सामाजिक क्षेत्र हो, या व्यापारिक; धार्मिक हो या राजनीतिक। किसी भी सीमा, किसी भी परिधि मे जाएँ—ये दोनो पक्ष तो होंगे ही।

भगवान् महावीर की वाणी उद्बोधन दे रही है—**अप्पाणं अणुसासए** (स्वय-पर-स्वयं-का-अनुशासन करो)। यह बात कहने मे अति सरल है, लेकिन आचरण मे उतनी ही कठिन है। दूसरो की बुराइयाँ देखना सरल है, दूसरो को मार्ग-दर्शन देना आसान है, दूसरो को प्रेरणा भी दी जा सकती है, लेकिन वही प्रेरक दूसरो के न बदलने पर क्रोधाभिभूत हो जाता है, अशान्त हो जाता है। अनुशासित जब अनुशासन मे नही रहता तो अनुशासक गुस्से से भर जाता है। वही अनुशासक अनियन्त्रित होता है जो स्वय, स्वयं के द्वारा अनुशासित नही है। अविजित आत्मा ही एक अपना शत्रु है। अविजित कषाय और इन्द्रियाँ ही आत्मा की शत्रु है—

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।

—संयम सूत्र ३

भगवान् महावीर कह रहे है—जो अपनी आत्मा पर अनुशासन नही करता, वही दूसरो के अनुशासित न रहने पर स्वयं अनुशासित नहीं रह पाता। उसकी स्वय की आत्मा अभी कषायो से, इन्द्रियो के विषयों से विजित है। अनुशासन इसलिए है कि हमे उत्तरदायित्व निभाना है, जहाँ तक सफलता मिलती है हम प्रयास करे—लेकिन सफलता न मिलने

पर मन को उद्वेग से न भर लें। 'अध्रुव, अशाश्वत और दु ख-बहुल ससार मे ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ'—इस प्रकार का निरन्तर चिंतन अवश्य ही सफलता के द्वार खोलता है—

अधुवे असासयम्मि, ससारम्मि दुक्खपउराए।
कि नाम होज्ज त कम्मय, जेणाऽह दुग्गइ न गच्छेज्ज ॥

हम अनुशासन करें, लेकिन स्वय अनुशासित रह कर। हम दूसरों के सुधार का चिन्तन कर सकते हैं, चर्चा कर सकते है, विचार दे सकते है, लेकिन स्वय के सुधार का उत्तरदायित्व स्वय पर है, अत स्वय पर ही अधिक ध्यान दे, 'स्व' को महत्त्व दे, 'स्व' सम्बन्धी चर्चा करें। इस प्रक्रिया से सूक्ष्म जगत् मे, अन्तर्मन मे परिवर्तन होगा।

माना कि किसी ने मुझे अपशब्द कहे, मैं एकदम क्रोध से भर उठी, लेकिन उसी क्षण ज्ञानियों के शब्दों का आलम्बन लेकर विचार करूँ कि 'ये शब्द सुनते ही इतनी उछल-कूद क्यों? ये शब्द यदि किसी ने मेरे प्रति कह भी दिये तो मेरी क्या हानि हुई? मैं तो आत्मा हूँ, मेरा स्वभाव क्षमा है।' इस प्रकार का जब चिन्तन चलेगा तो अपनी निन्दा सुनने की शक्ति पैदा होगी। ऐसे क्षणों में सम्बन्ध जगत से कम और अपने से अधिक होगा। ऐसे विकास के क्षणों मे व्यक्ति अपने को भीतर पाता है, बाहर नहीं। जो व्यक्ति इस प्रकार के चिन्तन मे प्रवृत्त हुआ तो उसका मन भी परिवर्तित होगा और पुरुषार्थ भी। मन एक कूप है, वचन उसमें निकलने वाला जल है। कूप रूपी जल को देखकर परिवार, मोहल्ले वाले सभी अनुमान लगा लेते हैं कि इसमें क्रोध कितना? लोभ कितना? मोह कितना? हमारा आचरण यदि अच्छा होगा तो हमारे विचार दूसरों को प्रभावित कर पायेंगे। जम्बूकुमार का दृष्टान्त हम सुनते ही है कि बाहर डेरा-डेरा माना पड़ा है, प्रभव आदि चोर लूटने के लिए घर मे घुस जाते है लेकिन जम्बू देख कर भी अनदेखा कर देते है, अतुल समृद्धि के बीच भी जम्बूकुमार की वैराग्य दशा देख कर रति, रम्भा सदृशा आठ-आठ नवविवाहिता वधुओं के बीच भी उनकी अनासक्त अवस्था देखकर, उनके उच्च विचार सुनकर चोर भी प्रबुद्ध हो गये और वे भी जम्बूकुमार के साथ दीक्षित हो गये।

हमारा आचरण ही दूसरों को कुछ सिखा सकता है। आचरण की पवित्रता के अभाव में हम नारे तो लगा सकते हैं, भाषण तो दे सकते हैं, चिल्ला तो सकते हैं; लेकिन हमारा वह सारा चीखना-चिल्लाना व्यर्थ होगा। सच्चा परिवर्तन तभी होगा, जब हम नहीं बोलेंगे, हमारा जीवन बोलेगा। निश्चित रूप से अच्छाई को पहले अपने जीवन में प्रारम्भ करना होगा।

एक बार एक स्त्री अपने बच्चे को लेकर एक संत के पास गई। उसने संत से निवेदन किया—'गुरुदेव ! मेरा यह बच्चा अस्वस्थ है, रोगी है, इसे वैद्य ने गुड़ खाने के लिए बिलकुल मना कर दिया है, लेकिन यह मानता नहीं। आप इसे समझा दें कि यह गुड़ न खाया करे। संत ने कुछ सोचा और कहा—'बहिन ! कुछ दिनों बाद आना। कुछ दिन बाद वह स्त्री आई। अब संत ने बच्चे को कहा—'बेटा ! गुड़ मत खाया करो'। बच्चे ने स्वीकार कर लिया। स्त्री ने विस्मित हो पूछा—'गुरुदेव ! यह बात तो आप उस दिन भी कह सकते थे, फिर इतने दिनों बाद क्यों बुलाया? संत ने कहा—'बहन ! पहले मैं स्वयं गुड़ खाता था, इसलिए मैं कैसे कहता? अब मैंने छोड़ दिया है, अतः इसे भी कह दिया।'

कहने का तात्पर्य यह है कि हम अच्छाई का प्रारम्भ स्वयं से करें। लेकिन हमारी दुर्बलता यह है कि हम दूसरों को बदलना चाहते हैं। पति सोचता है—पत्नी अनुशासन में रहे। गुरु चाहता है—शिष्य अनुशासन में रहे। अनुशासन-कार्य में यदि सफलता मिल जाए तो मन उछलने लगता है—देखो ! मैंने कैसा अनुशासन रखा। उसे उस अवस्था में आनन्द आता है, क्योंकि उसके अहम् की पुष्टि होती है।

हम स्वयं को कैसे बदलें? कितने ही बन्धु धार्मिक क्रियाएँ करते हैं, जप-तप करते हैं। नहीं करने वालों की संख्या भी काफी है, लेकिन करने वालों की भी कमी नहीं। तो भी हमारी मनोवृत्ति में धार्मिकता कहाँ आ पाई है? महापुरुषों की वाणी का प्रभाव जीवन में कितना है? धार्मिक कहलाये जाने वाले के बाद भी धर्म जीवन में कहाँ उतरा है? अगर उतर

गया होता तो मन बदल गया होता मन बदल गया होता, तो बुद्धि बदल गई होती, और यदि बुद्धि बदल गई होती, तो पुरुषार्थ भी बदल गया होता। हम स्वयं ही अपने बारे में चिन्तन करें कि हमारा पुरुषार्थ कैसा है? क्या शोषण की भावनाएँ, अनैतिकता, अन्याय, काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह आदि की वृत्तियाँ हम मे दूर हो गयी हैं? क्या हम अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण कर सके हैं?

एक बार मैं आहार हेतु एक घर मे गई। जैसे ही मैं अन्दर पहुँची, गृहिणी थोड़ी सकपका गई और बोली—महाराजश्री! जरा देखकर आइयेगा। कांच के टुकड़े बिखरे हुए हैं। मैंने कहा—कोई बात नहीं, मैं देख कर निकल जाऊँगी—क्या गिलास टूट गया? वह महिला पहले तो कुछ नहीं बोली। फिर कहने लगी—महाराजश्री! आज हमारे पतिदेव ने क्रोध मे आकर आलमारी के शीशे पर पत्थर दे मारा। अब मेरी दृष्टि आलमारी की तरफ गई। उसका कांच टूटा हुआ था।

कितनी अनियन्त्रित अवस्था! कितना असन्तुलन!! लेकिन इस असन्तुलन ने किसकी हानि की? उसकी स्वयं की। स्थूल हानि भी और सूक्ष्म हानि भी। स्वयं का कांच फूटा, जिस किसी को भी चुभ जाय तो उसकी हानि और क्रोध ने तो न जाने कितने कर्मों को आमन्त्रण दे डाला होगा। अपने शरीर की शक्ति को भी क्षीण किया। कई व्यक्ति होते हैं कि इधर क्रोध आया—और उधर उन्होंने पहने हुए वस्त्रों की चिन्दी-चिन्दी कर डाली। भाई! वस्त्रों का क्या गया, तुम्हारी ही हानि हुई।

अतः हम अपने संस्कारों को बदलना होगा। अपने जीवन, अपने चरित्र को ऊँचा उठाना होगा—चरित्तं खलु धम्मो। कुबुद्धि को भगाकर सुबुद्धि को लाना होगा।

एक बार एक सन्त नाव में बैठे थे। उसी नाव मे कुछ उद्दण्ड लड़के भी बैठे थे। वे अश्लील शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। उनके हास-परिहास में कहीं शिष्टता नहीं थी। उनकी उद्दण्डता देखकर सन्त का मन क्षुब्ध हो उठा। आखिर उन्हें कहना पड़ा—'मित्रों! कोई अच्छी चर्चा करो,

जिससे किसी को परेशानी न हो, सभी तुम्हारी चर्चा का रसास्वादन कर सकें, यह विषय ठीक नहीं। इतने व्यक्तियों के बीच ऐसा वार्तालाप शोभनीय नहीं।' सन्त के हितकारी वचन सुनकर वे तिलमिला उठे और कहने लगे—'आप कौन होते हैं कहने वाले? आपको क्या अधिकार है कहने का? आप भी नाव में बैठे हैं तो हम भी पैसे देकर बैठे हैं।' वे और भी उग्र हो उठे और अपशब्दों का खुलकर प्रयोग करने लगे। सन्त ने सोचा—'मैंने इन्हें कहाँ छेड़ दिया? यह तो सर्प को दूध पिलाने वाली स्थिति हो गई।' शिक्षा उसी को दो जिसे सुहाती हो—

सीख वाहि को दीजिए जाको सीख सुहाय।
सीख न दीजे बाँदरा, घर बया का जाय।।

सन्त अपने ध्यानयोग में बैठ गये. इतने में देववाणी हुई—'बोलो सन्त! तुम्हें सताने वाले इन दुष्टों को क्या दण्ड दूँ? क्या इन्हें मौत के घाट उतार दूँ? अथवा तुम्हें बचाकर सारी नाव को उलट दूँ? बोलो सन्त! इन नीच लोगों के साथ कैसा व्यवहार करूँ?' सन्त पहले तो चुप रहे लेकिन देव के बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने कहा—'भाई! इन्हें मौत के घाट उतारने में क्या होगा? नाव को भी उलट देने से क्या होगा? अगर उलटना ही है तो इनकी बुद्धि उलट दो, कुबुद्धि को सुबुद्धि में पलट दो।' वे युवक उस संत को देखते रह गये और उसके चरणों में लोट गये। इस प्रकार सन्त ने न केवल अपने परिणामों को निर्मल बनाया, अपितु अपने अनुकरणीय व्यवहार द्वारा उन युवकों के भी हृदय परिवर्तित कर दिये। सन्त, गुरु, आचार्य दीपक के समान होते हैं, जो स्वयं भी प्रकाशमान होते हैं और दूसरों को भी प्रकाशित करते हैं। कहा भी है—

जह दीवा दीवसयं, पइप्पए सो य दिप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति परं च दीवेंति।।

—समणसुत्तं/शिक्षासूत्र 7

गुरुओं का आचरण शुद्ध, निर्मल, पवित्र होता है, अतः उनकी वाणी में भी हमारा जीवन बदलने की क्षमता होती है। इसी तरह हमारे आचरण

का प्रभाव भी परिवार को बदलने में सहयोगी बनेगा। उच्च चरित्र का व्यक्ति सबको अतिप्रिय होगा। कहा भी है—

> विस्ससणिज्जो माया व, होइ पुज्जो गुरु व्व लोअस्स।
> सयणु व्व सच्चवाई, पुरिसो सव्वस होइ पिओ॥

—धम्मसूत्र 14

सत्यपरक व्यक्ति की माता की तरह विश्वसनीय, गुरु की तरह पूज्य, स्वजन की भाँति सबको प्रिय होता है।

अतः हम भी विचारों को उन्नत करें, मन को नियन्त्रित करें, स्वयं के अनुशासक स्वयं बनें। जब हम स्वयं के अनुशासक बन जाएँगे तो अनादि-काल से अनुशासक बनी हुई ये क्रोध-काम आदि वृत्तियाँ स्वयं ही भाग जाएँगी। जब ये वृत्तियाँ चली जाएँगी तभी हम पूर्णता को प्राप्त कर सकेंगे। आइये, संकल्प करें कि हम स्वयं के अनुशासक स्वयं बनेंगे। □

अपेक्षा : उपेक्षा : क्रोध

☐ ईर्ष्या का प्रारम्भ इस विचार से होता है कि इसके पास है, मेरे पास क्यों नहीं ? 'मेरे पास नहीं है' यह भी पीड़ा का उतना कारण नहीं जितना कि उसके पास क्यों है ? ईर्ष्या उद्वेग की जननी है। —— कोई भी अपेक्षा जब उपेक्षा में बदलती है, तब हृदय में क्रोध जन्म लेता है ☐ मानव-आकृति (मनुष्य-देह) पाना भी सतत प्रवहमान जीवन की एक बड़ी उपलब्धि है; किन्तु यदि आकृति के साथ मानव-प्रकृति का अभाव है तो फिर आकृति उतने महत्त्व की नहीं रहती। प्रकृति, यानी हममें यदि मनुष्यता आ गई तो समझिये आकृति भी धन्य हो गई ☐ हमारा हृदय भी एक प्रकार का घर ही है। इस घर को सजाने के भाव क्या कभी होते हैं ? इस घर की सजावट में चाहिये शान्ति, सन्तोष, सहिष्णुता, सरलता। ये गुण यदि हमें विकसित करने हैं तो पहले हमें आत्मावलोकन करना होगा। स्पष्ट है, हमारी अपेक्षा जब तक निरपेक्ष वृत्ति में नहीं बदलेगी तब तक इन गुणों का विकास नहीं होगा ☐ हम जो भी अपेक्षा करते हैं, दूसरों से करते हैं। महान व्यक्ति वे होते है, जो दूसरों से नहीं, बल्कि सारी अपेक्षाएँ स्वयं से करते हैं।

बन्धुओ ! समभाव के आराधक, समत्व के ज्वलन्त प्रतीक, परम सन्त दमदन्त ऋषि की परिपूर्ण विकसित समत्व तत्त्वमय जीवन-स्थिति के बारे में हमने पढ़ा है, सुना है कि पत्थरों से चिने जाने पर भी उन्होंने

अपने सन्तुलित मन मस्तिष्क को विचलित नहीं होने दिया। ऐसी समता, ऐसी शान्ति, ऐसा सन्तुलन आश्चर्यजनक है, किन्तु यह चरम उपलब्धि है, साधना की सर्वोच्च स्थिति है, उसकी परिपूर्णता है। विचारणीय यह है कि इस पूर्णता का प्रारम्भ भी तो कहीं-न-कहीं से हुआ होगा। प्रत्येक पूर्णता किसी प्रारम्भ का ही तो फल है।

'प्रयत्ने प्रतिवसति सिद्धि'। हम कम-से-कम किसी के दो शब्द सुनने की क्षमता तो पैदा करें, किसी के दो कटु शब्द पचाने की कोशिश तो करें। आज दो शब्द सुनेंगे तो कल दो गालियाँ भी सुन सकेंगे—दो प्रहार भी सहन कर सकेंगे। इस प्रकार सहते-सहते हम में भी सहिष्णुता का गुण जागृत हो कर व्याप्त हो जायगा, फलतः हम भी कभी समभाव के साधक हो जाएँगे और चरम उपलब्धि प्राप्त कर सकेंगे।

'समता' शब्द का उलटा है 'तामस'। तामस यानी क्रोध। हर व्यक्ति इस बात को मान कर चलता है कि क्रोध बुरा है। कोई भी धर्म, मजहब, साधु, सन्त, संन्यासी, श्रमण, योगी, फकीर, साधक, ऋषि, महर्षि क्यों न हो, सभी एक स्वर से यही बात कहते हैं कि क्रोध नहीं करना चाहिये, परन्तु जब तक हम यह नहीं जान लेंगे कि 'क्रोध आता क्यों है?' तब तक क्रोध पर नियमन करना, क्रोध का त्याग करना बड़ा कठिन काम है बड़ा मुश्किल है, बड़ी टेढ़ी खीर है।

तो पहले हम क्रोध का उद्भव देखें, उसका बीज देखें, उसकी प्रारम्भिक स्थिति का पता लगायें कि आखिर वह आता किस रूप में है, किस कारण से आता है?

परम स्पष्ट बात यानी हमारी कोई भी अपेक्षा जब उसके द्वारा उपेक्षित होती है तो हमारे हृदय में क्रोध पैदा होता है, 'अपेक्षा' जैसे ही 'उपेक्षा' में बदली कि 'क्रोध' ने जन्म लिया, क्यों? क्योंकि हमारे अहम् को चोट लगी, ठेस लगी, ठोकर लगी। हमारी जो एक कल्पना है, भावना है, इच्छा है—पर से, दूसरों से जो एक अपेक्षा है उसको साकार रूप नहीं मिलता अपितु तिरस्कार हाथ लगता है, बस यही स्थिति क्रोध हो कर व्यक्ति के

हृदय में क्रोध के भाव उत्पन्न करती है। हमारी अपेक्षाएँ इन ... कि उन्हें जीवन के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। अपेक्षा किसे नहीं? सेठ को नौकर से है, पिता को पुत्र से है, भाई को बहिन से है, एक व्यापारी को दूसरे से है: हर व्यक्ति को कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी से अपेक्षा है ही। निरपेक्ष वृत्ति आ जाए तो फिर क्या चाहिए! वह तो फिर समभाव की चरम परिणति हो जाएगी, वह तो साध्य के अति निकट पहुँचाने वाली साधना हो जाएगी।

किन्तु संसारी प्राणी प्रतिक्षण विषय-कषायों में डूबा रहता है; उसकी ऐसी स्थिति अभी हो नहीं सकती। वह हर क्षण अपेक्षा करता है; हर सम्पर्क में करता है। अफसर नौकर से अपेक्षा रखता है कि जैसे ही मैं ऑफिस पहुँचूं वह मेरे सम्मान में खड़ा हो जाए, नमस्कार करे, दरवाजा खोले। आपकी यह जो अपेक्षा है, भावना है, आशा है, उस अपेक्षा को, उस कल्पना को यदि साकार रूप नहीं मिलता है तो व्यक्ति का, उसके हृदय का सन्तुलन नहीं रहता। यह जो असन्तुलन आता है, वही क्रोध है। अब यह बात दूसरी है कि कोई चतुर है, विवेकी है तो वह उस भाव को हृदय में छिपा लेगा, क्रोध आयेगा अवश्य पर उसे वह प्रकट नहीं करेगा। भाव, क्रोध का भाव अभिव्यक्त नहीं हुआ, इसका अभिप्राय यह नहीं कि उसके हृदय में कोई भाव आया ही नहीं। भाव निश्चित रूप से प्रकट हुआ।

आपकी अपेक्षा है कि जब मैं ऑफिस जा रहा हूँ तो निश्चित समय पर भोजन तैयार हो जाना चाहिये, उस समय तक मेरे कपड़े, जूते, मौजे, रुमाल आदि सभी आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था हो जानी चाहिए। यदि गृहिणी किसी कारणवश दो-चार मिनिट के लिए किसी अन्य कार्य में लग गयी, या बच्चे को सँभालने में लग गयी और आपकी 'अपेक्षा' उपेक्षित हो गई तो क्रोध से तमतमा उठते हैं आप—"हजार बार कह दिया, मेरा काम समय पर कर दिया करो, पर सुने तो कोई। तुम्हे चाहे कितना ही कह दो, तुम तो देर किये बिना मानोगी नहीं। तुमसे कहना ही बेकार है, इससे तो अच्छा है अपने हाथ से कर लेना।" आदि वाक्य निकलने लगते हैं मुख से। अपेक्षा उपेक्षा में बदल गई और आ गया क्रोध। हमारी अपेक्षा है भोजन

मे हमेशा गर्म फुलका मिले, कदाचित् किसी कारण मे फुनका कुछ ठण्डा हो गया, या परसने वाले की उपेक्षा मे गरम की जगह ठण्डा आ गया, तो क्या हुआ? अपेक्षा उपेक्षा में बदली और झट क्रोध राजा का आगमन हो गया।

हमारे प्रतिदिन के जीवन मे ऐसी अनेक परिस्थितियाँ, निमित्त, सयोग क्रोध के कारण बन जाते है, जिनका रहस्य है हमारी 'अपेक्षा' का किसी-न-किसी 'उपेक्षा' मे बदलना। जिन्हें अपनी क्रोध प्रवृत्ति को कम करना है, हृदय के तामस भावों को शान्त करना है, उन्हें चाहिए अपेक्षारहित जीवन। मगर सर्वथा अपेक्षारहित जीवन जीना तो बडा कठिन है, तथापि इतना तो किया ही जा सकता है कि हम अपेक्षाएँ कम-से-कम रखें ताकि क्रोधोदय के अवसर कम-से-कम आयें।

हम आकृति मे मानव है, किन्तु प्रकृति मे अभी पूर्ण मानव नही बन पाये हैं। आकृति पाना भी एक बडी उपलब्धि है फिर भी यदि आकृति के साथ प्रकृति का अभाव है तो उसका उतना मूल्य नही जितना प्रकृति-समन्वित आकृति का होता है। प्रकृति यानी मानवता, हम मे मानवता प्रकट हुई तो हमारी आकृति भी धन्य-धन्य हो गई। धरा पर जितनी आकृतिया दिखाई देती हैं, उनमे मानवाकृति सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। जितनी भी जीव-जातियाँ है, गतिया है, योनिया है, उनमे भी जितने शरीरधारी जीव है, सभी की आकृतियो को देखिए। हजारो-लाखो असख्य प्राणी अनेक आकृतियो मे विभाजित है, उन सबका अपना चित्र है, यदि उन सारे चित्रो के साथ हम अपने चित्र की तुलना करेंगे तो पायेंगे कि हमारे चित्र से अधिक अच्छा, अधिक उपयोगी अन्य कोई चित्र नही है, मनुष्य के चित्र को छोड कर अन्य ऐसा कोई चित्र नही है जिसके लिए हम प्रभु से प्रार्थना करें कि आगे हमे भी यह आकृति मिले। सर्वोपरि आकृति यही है।

बन्धुओ! आकार से तो हम श्रेष्ठ है, बडे है, इसीलिए ऋषि-मुनियों ने कहा—'नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्', 'बडे भाग मानुष-तन पावा'। जिसने इसके महत्त्व को नही माना, आप चाहे रामचरित-मानस

देखें चाहे गीता, रामायण, भागवत, कुरान, बाइबल, उत्तराध्ययन, आचारांग किसी भी ग्रन्थ को, सर्वत्र एक ही स्वर गूंजेगा—'मानव-जन्म दुर्लभ है'।

जिस दुर्लभातिदुर्लभ आकृति को हम पा चुके है, उसकी दुर्लभता के गीत गाये या न गाये, वह तो हमने प्राप्त कर ही ली। अब इस चिन्तन से क्या लाभ कि लाखो-हजारो योनियो की अपेक्षा वह दुर्लभ है? हमें तो वह सहज सुलभ है। बन्धुओं! हम ज्येष्ठ तो बन गये, किन्तु प्रश्न है इस ज्येष्ठता के साथ श्रेष्ठता का? यदि श्रेष्ठता नही आई तो वह ज्येष्ठता भी श्रेष्ठता के अभाव मे विशेष महत्त्व की नही। यदि ज्येष्ठता के साथ श्रेष्ठता का समन्वय है तो उसका मूल्य है और उसी की उपलब्धि को, चरम परिणति को सन्तो ने, महन्तो ने, ऋषियो ने, मुनियो ने गाया है। इसी श्रेष्ठता को हम जीवन मे साकार करे।

आकृति से हम इन्सान है; प्रकृति से इन्सान बनने के लिए 'तामस' प्रकृति को 'समता' प्रकृति मे बदलने के लिए हमे क्या करना चाहिये?

सर्वथा निरपेक्ष तो हम हो नही सकते क्योकि हम सामान्य प्राणी हैं; ऐसे नहीं जिनमे समस्त गुण विकसित हो चुके हो, सारे गुण उभर चुके हो; गुणो का घर बन चुका हो हमारा हृदय।

हम ईंट, चूना, सीमेंट, पत्थर का घर तो खूब सजाते है, उसकी सजावट मे, व्यवस्था मे हम रात-दिन व्यस्त रहते है, जागरूक रहते हैं। हमारा हृदय भी एक प्रकार का घर ही है, इस घर को सजाने के भाव क्या कभी हमारे मन मे आते है? इस घर की सजावट के लिए चाहिये शान्ति, सन्तोष, सरलता, सहिष्णुता। इन गुणो को विकसित करने के लिए हमे आत्म-निरीक्षण करना होगा, आत्मावलोकन करना होगा। जब तक हमारी अपेक्षा निरपेक्ष वृत्ति मे नही बदलेगी तब तक इन गुणों का विकास नहीं हो सकेगा। हम जो भी अपेक्षा करते हैं, दूसरों से करते हैं। महान् व्यक्ति वे होते है जो दूसरो से नही बल्कि स्वयं से अपेक्षा करते है। सामान्य व्यक्ति की जितनी भी अपेक्षाएँ है उन सब का उत्तरदायी

चेन्द्र वह स्वय न हो कर अन्य होता है, दूसरा होता है। एक पिता को पुत्र से अपेक्षा है कि वह सुशील हो, गुणवान् हो, विनयी हो, कमाऊ हो, कुल-गौरव को बढाने वाला हो—मेरी सात पीढी का नाम रोशन करने वाला हो। इसी प्रकार नाम को वह से, भाई को बहिन से, मा को पुत्री से सबको, सबकी सबसे परस्पर अपेक्षाएँ रहती हैं, यह प्रवृत्ति सामान्य जन की होती है, लेकिन जो महान व्यक्ति हैं, साधक हैं, सच्चे मुमुक्षु हैं, सत हैं, मुनि हैं, वे तो स्वय से ही सर्वाधिक अपेक्षा करते हैं, दूसरो से बहुत कम।

हमारा प्रयत्न सदा यही रहता है कि दूसरे बदल जाएँ। अध्यापक सोचता है विद्यार्थी सुशील हो, विद्यार्थी सोचते हैं अध्यापक अच्छा हो। मालिक सोचता है नौकर ऐसा हो, नौकर सोचता है मालिक ऐसा हो। सभी इसी प्रकार दूसरा के सुधार की अपेक्षा करते हैं। सोचने का यह तरीका गलत है। स्वय को अलग रख कर सोचना ठीक नही। जब तक हमारी दृष्टि 'पर' पर रहेगी तब तक हमारे कषायभाव हम से छूटने वाले नही, क्योकि जब-जब भी हमारी 'अपेक्षा' 'उपेक्षा' मे बदलेगी तब-तब हमारे रक्त मे उष्णता आयेगी, उस उष्णता से हम धमधमा उठेंगे, तमतमा उठेंगे, वह उष्णता आँखो म टपकेगी, वाणी मे व्यक्त होगी। जहा तक मैं समझती हूँ हमारे जैसे सामान्य प्राणी तो असतुलित ही रहेंगे, कभी ऊपर, कभी नीचे, कभी हानि मे, कभी लाभ मे, कभी हर्ष मे, कभी शोक मे।

दूसरो से जितनी आशा-अपेक्षा कम रहेगी, उतनी ही शाति, उतना ही सुख-सतोष रहेगा, साधना मे निर्मलता आयगी। एक दिन सहिष्णुता की सीमा भी उपलब्ध होगी और हम क्रोध पर विजय पाकर शान्ति, समता सरलता, धैर्य के प्रतिरूप दमदन्त ऋषि जैसी स्थिति को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। □